ही सारभूत है; जब उसमें दृढ़ अभ्यास करोगे, तब आत्मसत्ता ही दिखेगी और फिर उस निश्चय से चलायमान न होगे। राम ने पूछा, हे भगवन् ! पाताल, भूतल और स्वर्ग में बुद्धमान् कौन हैं, जिनको पूर्वापर के विचारसे परावर का साक्षात्कार हुआ है ? और वे आत्म-स्वरूप का निश्चय कैसे करते हैं ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सब जगत् इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा से जलता है, इष्ट की प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट की प्राप्ति में शोक करता है। ऐसा कोई बिरला ही है, जो जगत् में सूर्य की नाईं प्रकाशता है, नहीं तो सब तृण की तरह भोगरूपी वायु में भटकते हैं। जो सबमें श्रेष्ठ कहाता है, वह भी विषयरूपी अग्नि में जलता है। जैसे कीड़े अशुभ स्थानों में रहते हैं और उनमें अपने को प्रसन्न मानते हैं, वैसे ही देवता भी सदा भोगरूपी अपवित्र स्थानों में अपने को प्रसन्न मानते हैं, सो वे मेरे मत में दुर्गन्ध के कृमि हैं। गन्धर्व तो मूढ़ हैं। उनको तो कुछ सुधि नहीं अर्थात् आत्मपद की गन्ध भी नहीं—वे तो मेरे मत में मृग हैं। जैसे मृग को राग में आनन्द होता है, वैसे ही गन्धर्व राग में उन्मत्त रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। विद्याधर भी मूर्ख हैं, क्योंकि वे वेद के अर्थरूपी चतुराई को अग्नि में जलाते हैं और वेद के सारभूत अमृत को नहीं जानते, इसलिए आत्मपद से विमुख हैं। सिद्ध मेरे मत में पक्षी हैं। वे पक्षी की नाईं उड़ते फिरते हैं और अभिमानरूपी पवन के चलने से अनात्मरूपी गढ़े में आ पड़ते हैं। अपने वास्तवस्वरूप में स्थित नहीं होते। यक्ष धन के अभिमान से मूर्ख की नाईं प्रीति कर जलते हैं और आत्मपद में स्थिति नहीं पाते। योगिनी भी मद से सदा उन्मत्त रहती हैं, इससे आत्मपद में स्थिति नहीं पातीं। दैत्यों को भी सदा देवताओं को मारने की इच्छा रहती है, इससे सदा शोक में रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। तुम तो पहिले से ही जानते हो। मनुष्य भी आत्मपद से गिरे हुए हैं; क्योंकि उनकी सदा यही इच्छा रहती है कि गृह बसाइये। वे खाने और धन इकट्ठा करने के निमित्त यत्न करते हैं और इन्द्रियों के विषयों में डूबे हुए हैं। पाताल में नाग रहते हैं,

जिनका जल में भी निवास है। वे सुन्दर नागिनियों में आसक्त रहते हैं, इसलिए वे भी आत्मानन्द से गिरे हुए हैं। निदान जितने प्राणी हैं, वे सब विषयों के सुख में लगे हुए हैं और आत्मपद से विमुख हैं। सब जातियों में बिरले जीवन्मुक्त और ज्ञानवान् भी हैं—उन्हें सुनो।

देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सदा आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुबेर, बृहस्पति शुक्र, नारद, कच आदि जीवन्मुक्त पुरुष हैं। सप्तऋषि, दक्षप्रजापति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन जीवन्मुक्त हैं। और भी बहुत मुक्त हैं। सिद्धों में कपिलमुनि; यक्षों में विद्याधर और योगिनी और दैत्यों में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, विभीषण, इन्द्रजित्, सारमेय, चित्रासुर और नमुचि आदि जीवन्मुक्त हैं। मनुष्यों में राजर्षि और ब्रह्मर्षि, नागों में शेषनाग, वासुकि नाग आदि जीवन्मुक्त हैं। ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक में कोई कोई बिरले जीवन्मुक्त हैं। हे राम! जाति जाति में जो जीवन्मुक्त हुए हैं, वे तुमसे संक्षेप से कहे हैं। जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ-वहाँ अज्ञानी ही बहुत हैं, ज्ञानवान् कोई बिरला ही दिखता है। जैसे सब जगह वृक्ष बहुत हैं, परन्तु कल्पवृक्ष बिरला होता है वैसे ही संसार में अज्ञानी बहुत हैं, ज्ञानी कोई बिरला है। हे राम! सूरमा और कोई नहीं, जिसको आत्मपद में स्थिति हुई है वही सूरमा है और संसार समुद्र तरना उसी के लिए सुगम है।

इति श्रीयो० निर्वाण० मुक्तसंज्ञावर्णनन्नाम द्विशताधिकसप्तमस्सर्गः २०७

वशिष्ठजी बोले, हे राम! जो विवेकी विरक्तचित्त पुरुष हैं, जिनकी स्वरूप में स्थिति हुई है, उनके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, अभिमान, दम्भ आदि विकार स्वाभाविक नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय में अन्धकार स्वाभाविक निवृत्त हो जाता है और जैसे बाण को देखकर कौआ भाग जाता है, वैसे ही विवेकरूपी बाण को देखकर विकाररूपी कौए भाग जाते हैं। विवेकी पुरुषों के हृदय में इतने गुण स्वाभाविक स्थित होते हैं कि वे किसी पर क्रोध नहीं करते, और जो करते भी दिखते हैं, सो किसी निमित्तमात्र जानना। उनके हृदय में सदा शान्ति

और दया रहती है। जो कोई उनके निकट आता है, वह भी शीतल हो जाता है, क्योंकि वे निरावरण स्थित हैं। जैसे चन्द्रमा के निकट जाने से शीतलता होती है, वैसे ही ज्ञानवान् के निकट आने से हृदय शीतल होता है, और कोई पुरुष उससे उद्विग्न नहीं होता। जो कोई निकट आता है, उसको वे विश्राम के लिए स्थान देते हैं और उसकी कामना भी पूर्ण करते हैं। जैसे कमलों के निकट भौंरा जाता है तो वे उसको विश्राम का स्थान देते हैं और सुगन्ध से उसको संतुष्ट करते हैं, वैसे ही सन्तजन निहाल कर देते हैं। वे यथाशास्त्र चेष्टा करते हैं और हेयोपादेयकी विधिको भी जानते हैं। जो कुछ उन्हें स्वाभाविक प्राप्तहो, उसको वे शास्त्र की विधि सहित अङ्गीकार भी करते हैं और हृदय में गर्व की भावना से रहित हैं। उनमें दान-स्नान आदि शुभ क्रिया स्वाभाविक होती हैं। उदारता, वैराग्य, धैर्य, शम, दम आदि गुण भी स्वाभाविक होते हैं। वे इस लोक और परलोक में भी सुख देनेवाले हैं।

हे राम! जिन पुरुषों में ऐसे गुण पाइये, वे ही सन्त हैं। जैसे जहाज़ के आश्रय से समुद्र के पार होते हैं, वैसे ही सन्तजन संसारसमुद्र से पार करनेवाले हैं। जिनको सन्तजनों का आश्रय हुआ है, वे ही तरे हैं। सन्तजन संसारसमुद्र के पार के पर्वत हैं। जैसे समुद्र में बहुत जल होता है, तो बड़े तरङ्ग उछलते हैं और उसमें बड़े मच्छ रहते हैं, पर जब उसका प्रवाह उछलता है, तब पर्वत उस प्रवाह को रोकता है और उछलने नहीं देता, वैसे ही चित्तरूपी समुद्र में इच्छारूपी तरङ्ग और राग-द्वेषरूपी मच्छ रहते हैं और जब इच्छारूपी तरङ्ग का प्रवाह उछलता है, तब सन्तरूपी पर्वत उसको रोकते हैं। सन्तजन अपने चित्त को भी रोकते हैं और जो उनके निकट कोई जाता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं। यदि शरीर नष्ट होने लगे अथवा नगर नष्ट होने लगे या निकट अग्नि लगे तो भी ज्ञानवानों का हृदय स्वरूप से चलायमान नहीं होता। वे सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं। जैसे भूकम्प से सुमेरु चलायमान नहीं होता, वैसे ही वे भी चलायमान नहीं होते। ये जो मैंने तुमसे शुभ गुण स्नान, दान आदि कहे हैं सो जीवों को सुख

देनेवाले और दुःख को निवृत्त करनेवाले हैं। इनसे सुख की प्राप्ति होती है। और दुःख नष्ट हो जाता है। जब स्नान-दान की ओर मनुष्य आता है, तब सन्तों की संगति में भी उसका चित्त लगता है। जब सन्तों की संगति में चित्त लगा, तब क्रम से परमपद की प्राप्ति होती है। इससे मनुष्य का यही कर्तव्य है कि शास्त्र के अनुसार शुभ चेष्टा करे और सन्तों के निश्चय का अभ्यास करे।

हे राम ! जिसको सन्तों की संगति प्राप्त होती है, वह भी सन्त हो जाता है। सन्तों का संग वृथा नहीं जाता। जैसे अग्नि से मिला पदार्थ अग्निरूप हो जाता है, वैसे ही सन्तों के संग से असन्त भी सन्त हो जाता है। और मूर्खों की संगति से साधु भी मूर्ख हो जाता है। जैसे उज्ज्वल वस्त्र मल के संग से मलिन गंदा हो जाता है, वैसे ही मूढ़ का संग करने से साधु भी मूढ़ हो जाता है, क्योंकि पाप के वश उपद्रव भी होते हैं, इसी से पाप के वश साधु को भी दुर्जनों की संगति से दुर्जनता घेर लेती है। इससे हे राम ! दुर्जन की संगति सर्वथा त्यागनी चाहिए और सन्तों की संगति कर्तव्य है। जो परमहंस सन्त मिले और जो साधु हो और जिसमें एक गुण भी शुभ हो, उसका भी अङ्गीकार कीजिये, परन्तु साधु के दोष न विचारिये—उसके शुभगुण ही ग्रहण कीजिये—जैसे भौंरा केतकी के कण्टकों की ओर नहीं देखता, उसकी सुगन्ध को ग्रहण करता है। इससे हे राम ! संसारमार्ग को त्यागकर सन्तों की संगति करो, तब संसारभ्रम निवृत्त हो जायगा।

इतिश्रीयो० नि० जीवन्मुक्तव्यवहारोनामद्विशताधिकाष्टमस्सर्गः २०८॥

राम ने पूछा, हे भगवन् ! हमारे दोष तो सत्शास्त्र, सत्संग और उनकी युक्ति से और तीर्थ-स्नान, दान, जप और पूजा से निवृत्त होते हैं, पर और जीव जो कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि हैं, उनके दुःख कैसे निवृत्त होंगे ? वशिष्ठ बोले, हे राम ! जो वास्तव सत्ता है, उसी का नाम ब्रह्म है। वह अखण्ड अद्वैत है। उसमें कुछ द्वैत का विभाग नहीं है। परन्तु उसमें जो चित्त किञ्चन आभास फुरा है, वह फुरना ही नानात्व हुए की तरह स्थित हुआ है, वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जैसे

स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि दिखती है, परन्तु वास्तव में हुई नहीं, निद्रादोष से दिखती है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी वास्तव में नहीं हुई, अज्ञान से जीवों को भासित होती है। वास्तव में सब जीव ब्रह्मरूप हैं, पर अपने स्वरूप के प्रमाद से जीवत्वभाव को अङ्गीकार किया है। उस अङ्गीकार और अनात्म देहादिक में आत्मअभिमान से जीव जैसा निश्चय करता है, वैसी ही गति पाता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्य का जैसा संकल्प अनुभवसत्ता में दृढ़ होता है, वैसा ही भासता है। उसमें चार अवस्था कल्पित होती हैं और जैसी-जैसी भावना होती है, उसके अनुसार अवस्था का अनुभव होता है। वे चार अवस्था ये हैं—एक घनसुषुप्ति, दूसरी क्षीणसुषुप्ति, तीसरी स्वप्नअवस्था और चौथी जाग्रत्। पर्वत और पाषाण घनसुषुप्ति में हैं। जैसे सुषुप्ति अवस्था में कुछ नहीं फुरता, जड़ीभूत हो जाता है, वैसे ही इसको कुछ नहीं फुरता—घनसुषुप्ति में स्थित है। वृक्ष क्षीणसुषुप्ति में स्थित हैं। जैसे क्षीणसुषुप्ति में कुछ फुरना फुरता है, वैसे ही वृक्षों में भी फुरना होता है, इससे वे क्षीणसुषुप्ति में हैं। पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि तिर्यक् जीव स्वप्नअवस्था में स्थित हैं। जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखता है, परन्तु स्पष्ट नहीं दिखता, वैसे ही इनको थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है, इससे ये स्वप्नअवस्था में स्थित हैं। मनुष्य और देवता जाग्रतरूप जगत् का अनुभव करते हैं।

हे राम! ये चारों अवस्था आत्मा में स्थित हैं। छोटे-बड़े सबका अहंप्रत्ययरूप आत्मा है। उसमें जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही वह दिखता है। हे राम! हमको एक दिन व्यतीत होता है और चींटी को उसी में युग का अनुभव होता है। हमको जो सूक्ष्म अणु होता है, उनको वही पर्वत के समान लगता है। हे राम! स्वरूप सबका एक आत्मसत्ता ही है, परन्तु भावना से भिन्न-भिन्न भासित होता है। एक कीट है, जो बहुत सूक्ष्म है। जब वह चलता है, तब जानता है कि मेरा गरुड़ का सा वेग है और उसको वही सत् हो रहा है। बालखिल्यों का अंगुष्ठप्रमाण शरीर है। उनको वही बड़ा दिखता है और विराट् को वही अपना बड़ा शरीर लगता है। निदान जैसी जिसकी

भावना होती है, वैसा ही उसको भासित होता है। मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, सबका अपना-अपना भिन्न-भिन्न संकल्प है। जैसा संकल्प किसी को दृढ़ हो रहा है, उसको वैसा ही स्वरूप भासित होता है। जैसे मनुष्य राग, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि विकारों में आसक्त होता है, वैसे ही कीट, पतङ्ग, पक्षी आदि को भी होता है; परन्तु भेद इतना ही है कि जैसे हमको यह जगत् स्पष्टरूप दिखता है, वैसे उनको नहीं दिखता। संसारी सब हैं, परन्तु वासना के अनुसार न्यून-अधिक भासता है और दुःख का अनुभव स्थावर-जङ्गम को भी होता है।

जब किसी स्थान में अग्नि लगती है और उसमें वृक्ष और पाषाण जलते हैं, तब उनको भी दुःख होता है, परन्तु सूक्ष्म-स्थूल का भेद है। जैसे और जीव के शस्त्रप्रहार करने से शरीर नष्ट होने का दुःख होता है, वैसे ही वृक्षादिक को भी होता है, परन्तु घनसुषुप्ति, क्षीण-सुषुप्ति और स्वप्न-जाग्रत् का भेद है। पर्वत पाषाण को सूक्ष्म दुःख होता है, वृक्ष को पाषाण से विशेष दुःख होता है, परन्तु स्पष्ट मान और अपमान का दुःख नहीं होता; स्वप्न की नाईं होता है। मनुष्य और देवताओं को स्पष्ट राग-द्वेष जाग्रत् की नाईं होता है; क्योंकि वे जाग्रत् अवस्था में स्थित हैं। और वृक्ष, पाषाण आदि को स्पष्ट दुःख का विकल्प नहीं उठता; क्योंकि वे जड़ स्वभाव में स्थित हैं। पर दुःख तो सबको होता ही है। और आश्चर्य देखो कि कीट महादुखी रहते हैं। जब वे मृतक होते हैं, तब सुखी होते हैं। अज्ञान से जो इस शरीर में आस्था हुई है, उसको भी मरना बुरा लगता है तो और जीवों को भला कैसे न लगे। हे राम! अपने स्वरूप के प्रमाद से भय, क्रोध, लोभ, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषा, राग-द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छा आदि विकारों की अग्नि से जीव जलते हैं, आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते और घड़ीयन्त्र की नाईं वासना के अनुसार भटकते हैं। जब वासना दृढ़ पाप की होती है, तब जीव पाषाण और वृक्षयोनि पाते हैं। जब क्षीण वासना तामसी होती है, तब तिर्यक् पक्षी, सर्प और कीटयोनि पाते

हैं। हे राम! राजसी वासना से जीव मनुष्य होते हैं। सात्त्विकी वासना से देवता होते हैं। पर जब मनुष्य शरीर रखकर निर्वासनिक होते हैं, तब मुक्ति पाते हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब जीवों के दुःख नष्ट हो जाते हैं। दुःख के नाश का और कोई उपाय नहीं है। ये जगत् के दुःख तब तक जान पड़तेहैं, जब तक आत्मज्ञान नहीं उपजा! जब आत्मज्ञान उपजता है, तब सब जगत्भ्रम मिट जाता है। मुझसे पूछो तो वास्तव में न कोई देवता है, न मनुष्य है, न पशु है, न पक्षी है, न पाषाण है, न वृक्ष है और न कीट है; सब चिदाकाशरूप हैं, दूसरा कुछ नहीं बना, भ्रान्ति से नानास्वरूप भासित होते हैं। सर्वदाकाल सब प्रकार आत्मसत्ता अपने ही में स्थित है।

हे राम! न कुछ जगत् का होना है, न अनहोना है; न आत्मता शब्द है, न परमात्मता शब्द है; न मौन है, न अमौन है; न शून्य है, न अशून्य है; केवल अचेत चिन्मात्र अपने आपमें स्थित है। उसमें जन्म और जन्मान्तर भ्रम से भासित होते हैं। जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर भ्रम से भासित होता है और जैसे स्वप्न में एक अपना रूप होता है और निद्रादोष से द्वैत भासित होता है, वैसे ही अब भी आत्मा अद्वैत है; पर अविचार से नानात्व प्रतीत होता है। दुःख भी अज्ञान से होता है, विचार करने से दुःख कुछ नहीं। जो मृतक होकर उत्पन्न होता है, तो शान्ति हुई, दुःख कुछ नहीं, और जो मृतक होकर शान्त हो जाता है, उपजता नहीं, तो भी दुःख कोई नहीं, मुक्त हुआ। जो मरता नहीं तो भी ज्यों का त्यों हुआ, दुःख कोई नहीं हुआ। और जो सब चिदाकाश है तो भी दुःख की बात नहीं। हे राम! अज्ञानी के निश्चय में दुःख है, पर विचार किये से दुःख कुछ नहीं। यह जगत् आत्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित है, परन्तु यह जगत्रूपी कैसा प्रतिबिम्ब है, जो अकारणरूप है। इसका कारणरूप बिम्ब कोई नहीं। यह कारण से रहित है। जैसे नदी में जो नीलता का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अकारणरूप है, वैसे ही यह जगत् अकारणरूप है। अज्ञानी को प्रमाददोष से उसमें सत्यता है और ज्ञानी को द्वैत नहीं भासित होता—अज्ञानी को द्वैत

भासित होता है। हे राम ! हमको तो सदा चिदाकाश प्रतीत होता है—हम जागे हुए हैं, इससे द्वैत नहीं भासित होता। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं दिखता, वैसे ही हमको द्वैत नहीं दिखता। जो ज्ञानी है, उसको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं दिखता, उसे सर्वब्रह्म ही दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थरूपवर्णनन्नाम
द्विशताधिकनवमस्सर्गः ॥ २०६ ॥

श्रीराम ने पूछा, हे भगवन् ! जो कुछ तुमने कहा सो तो मैंने जाना, परन्तु अब प्रश्न यह है कि नास्तिकवादी का कल्याण किस प्रकार होता है, क्योंकि वे कहते हैं कि जब तक जीव है, तब तक सुख भोगे, जब मर जायगा तब भस्मीभूत होगा। न कहीं आना है, न जाना है। वशिष्ठ बोले, हे राम ! अखण्ड आत्मसत्ता आकाश की नाइ सर्वत्र व्याप्त है। जब तक उसका भान नहीं होता, तब तक मन का ताप नहीं नष्ट होता। जब आत्मसत्ता का भान होता है, तब शान्ति प्राप्त होती है और मनुष्य अपने को अमर जानता है। जिस पुरुष ने अखण्ड निश्चय अङ्गीकार किया है, उसको दुःख नहीं स्पर्श करता। वह ब्रह्मदर्शी होता है। और जिसको ब्रह्मसत्ता का निश्चय नहीं हुआ, उसको मन के ताप नहीं छोड़ते। वह स्वरूप के प्रमाद से अपने को मरता जानता है। पर महाप्रलयरूप आत्मा में सब शब्दों का अभाव है। जैसे महाप्रलय में सब शब्दों का अभाव होता है, वैसे ही आत्मा में सब शब्दों का अभाव है। जिसको आत्मा में निश्चय हुआ है, उसको सब शब्दों का अभाव हो जाता है, वह महाज्ञानवान् है। उसको आत्मसत्ता ही दिखती है। जो वास्तव है, उसको हमारे उपदेश की आवश्यकता नहीं—वह ज्ञानी है। हे राम ! आत्मसत्ता में द्वैत जगत् कुछ नहीं बना। परमार्थसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें जो सृष्टि भासती है, वह स्वप्न सदृश अकारण है, इसलिए ज्ञानवान् पुरुष सब शब्द-अर्थों को सत् नहीं जानता। ऐसे पुरुष को हमारे उपदेश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब शास्त्रों का सिद्धान्त आत्मपद है, जो उसको जानता है, उसको फिर कुछ कर्तव्य नहीं रहता। जिसको ऐसी दशा नहीं प्राप्त हुई, वही उपदेश

का अधिकारी है। यह जगत् आत्मा का किञ्चन है, अज्ञानी को सत्य जान पड़ता है और ज्ञानी के निश्चय में कुछ नहीं है। जैसे किसी ने संकल्प से एक वृक्ष रचा हो तो उसके पत्ते, टास, फूल, फल उसको दिखते हैं, पर और के मन में शून्य होते हैं, वैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जगत् होता है, पर ज्ञानी के निश्चय में विलास और आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

हे राम! आत्मसत्ता सर्वत्र और सर्वव्यापी है। उसमें जैसा निश्चय फुरना होता है वैसा ही अहंप्रत्यय भावना की दृढ़ता से भासित होता है। जिस पदार्थ का निरन्तर दृढ़ अभ्यास होता है, वह अभ्यास, शरीर-त्याग करने पर भी, धारणारूप हो जाता है। पर आत्मसत्ता ज्ञानमात्र है और केवल अद्वैतसंवित् सबका अपना रूप है। जिसको स्वरूप का ज्ञान होता है, वह शास्त्रों के दण्ड से रहित होता है। वेद और शास्त्र जिसको भला, बुरा, सच या झूठ वर्णन करते हैं, उसमें जिस पुरुष को निश्चय होता है, उसको वे वासना के अनुसार फल देते हैं। और जिसके निश्चय में आत्मा से भिन्न सब शब्दों का अभाव होता है, उसको आत्म अनात्म विभाग की कलना भी नहीं रहती, चाहे देह रहे अथवा न रहे। हे राम! जिसकी संवित् जगत् के शब्द-अर्थ में बँधी हुई है, उसको पदार्थों में राग-द्वेष उपजता है। जैसे सुषुप्ति में भी आत्मसत्ता है, पर अभाव की तरह स्थित है, वैसे ही नास्तिकवादी भी अपने जड़स्वरूप को देखते हैं, क्योंकि उनको जड़शून्यता का ही अभ्यास है और उसी से उनकी संवित् दृश्य सुख से बँधी हुई है, इससे उनका जगत्भ्रम नहीं मिटता। उस मलिन वासना से उन्हें संवित् मिली है, इससे उनको जड़ पत्थररूप प्राप्त होते हैं। उस जड़ता को भोगकर वे वासना के अनुसार फिर दुःख भोगेंगे। उस भावना से जगत् नहीं भासता, पर वे कुछ काल पीछे चैतन्य होकर फिर उन्हीं कर्मों को भोगते हैं। जैसे सूर्य के आगे बादल आवें और फिर हट जाय, वैसे ही उनके लिए जगत् होता है। स्फुरणरूपी जो जीव है, उसमें जैसा निश्चय होता है, वैसा ही भासित होता है।

जिसे एक आत्मा में निश्चय होता है, वह जन्म-मरण आदि विकारों से रहित होता है, और जिसे नानास्वरूप जगत् में निश्चय होता है, वह जन्म-मरण से नहीं छूटता।

हे राम ! जिसकी बुद्धि में पदार्थों का रङ्ग चढ़ता है, वह रागद्वेष-रूपी नरक से मुक्त नहीं होता, और जिसको एक आत्मा का अभ्यास होता है, उसे अभ्यास के बल से सब जगत् आत्मतत्व भासित होता है, और वह राग-द्वेष से मुक्त होता है। जैसे स्वप्न में किसी को अपना जाग्रत्स्वरूप स्मरण आता है तो वह स्वप्न के सब जगत को अपना देखता है, वैसे ही जिसको आत्मज्ञान होता है, उसको सब जगत् अपना रूप ही दिखता है। सर्वदा आत्मसत्ता अनुभवरूप जाग्रत् ज्योति है। जिसको ऐसी आत्मसत्ता में नास्ति की भावना होती है, वह कि गढ़े में कीट होता है; पाषाण, वृक्ष, पर्वत आदि स्थावरयोनियों को प्राप्त होता है और उनमें चिरकाल तक रहता है। जबतक उसकी बुद्धि का द्वैत का संयोग होता है, तबतक वह जगत्भ्रम देखता है—और भ्रम नहीं मिटता। पर जब उसकी संवित् को द्वैत का संयोग मिट जाता है, तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। हे राम ! सम्यक्ज्ञान से जगत् के भ्रम का अभाव हो जायगा। अभाव का निश्चय जगने पर फिर जगत् नहीं भासित होता। जब संसार के पदार्थों से संवित् बिंधी हुई है, तब जैसा निश्चय होगा, वैसा ही प्राप्त होगा और उसी निश्चय के अनु-सार गति होगी। राम ने पूछा, हे भगवन् ! नास्तिकवादी का वृत्तान्त तो आपने कहा, सो मैंने जाना, पर जो पुरुष हृदय में जगत् को सत्य जानता है, आत्मबोध के मार्ग से दूर है और शुद्धस्वरूप को नहीं जानता, उसके मोक्ष की क्या युक्ति है और उसकी क्या अवस्था होती है, यह मेरे बोध की दृढ़ता के निमित्त कहिए ?

वशिष्ठ बोले, हे राम ! इसका उत्तर मैंने प्रथम ही तुमसे कहा है पर अब फिर तुमने जो पूछा है इससे फिर कहता हूँ। पहले तो पुरुष का अर्थ सुनो। हे राम ! यह जगत् न नेत्रों में स्थित है, न श्रवण में है और न नासिका आदि इन्द्रियों में है—किन्तु चैतन्य संवित् में स्थित है। चैतन्य

संवित् ही पुरुषरूप है। जिसको उसमें निश्चय है, वह ज्ञानवान् है और उसको द्वैतकलना नहीं फुरती। और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगत भी होती है तो उसके निश्चय में नहीं होती है। जैसे आकाश में धूल दिखती है, परन्तु उसे स्पर्श नहीं करती, वैसे ही ज्ञानवान् को द्वैत-कलना स्पर्श नहीं करती। जिस चैतन्य संवित् में फुरने का सम्बन्ध है, उसको जगत् का आकार दिखता है, और जिस पुरुष की संवित् में देश, काल, क्रिया और द्रव्य का सम्बन्ध है, वह कलङ्क में दृढ़ हो रहा है। और जो अपने वास्तव अद्वैत स्वरूप के अभ्यास से मार्जन नहीं करता, वह वास्तव चैतन्य आकाशरूप होने पर भी कलङ्क से वासना के अनु-सार जगत् उसे अपने से भिन्न लगता है—द्वैतभ्रम नहीं मिटता। हे राम ! जो पुरुष ऐसा है कि देह के इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में सम रहता है, पर उसे आत्मसत्ता ज्यों की त्यों नहीं भासती, तो वह अज्ञानी है। आत्मसत्ता जाने विना उसका संसार निवृत्त नहीं होता। जब आत्म-सत्ता का साक्षात्कार होगा, तभी सब भ्रम निवृत्त होगा। हे राम ! यह पुरुष न जीव है, न स्फुरण है और न शरीर का नाश होने से इसका नाश होता है। यह केवल चिन्मात्रस्वरूप है, पर वासना से भ्रम को देखता है। शून्यवादी लोग वृक्ष, पर्वत आदि जड़ योनि पाते हैं जो सदा अनुभव स्वरूप है, उसको त्यागकर जो और को इष्ट मानते हैं वे मूर्ख हैं और उनको आत्मसुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के प्रमाद से अहं, त्वं, भीतर, बाहर आदि शब्द भासित होते हैं। जब आत्मज्ञान हुआ, तब सब शब्द आत्मरूप हो जाते हैं। जिन पुरुषों ने आत्म-अनात्म को निर्णय करके नहीं देखा, वे पुरुषों में नीच हैं। जिस पुरुष ने निर्णय करके आत्मा में अहं-प्रतीति की है और अनात्म का त्याग किया है, वह महापुरुष है। उसे मेरा नमस्कार है। जिसने अनात्मा में अहंप्रतीति की है और आत्मा का त्याग किया है, वह बालक है। जैसे आकाश में बादल ही हाथी और घोड़े के आकार से दिखते हैं और समुद्र में तरङ्ग उठते हैं, वसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। पर द्वैत कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न के नगर अपने-अपने अनुभव में स्थित

होते हैं, और बाहर द्वैत की नाईं भासते हैं सो वे आभासमात्र हैं, वैसे ही आत्मा में जो जगत् भासित होता है, वह आभासमात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जिसको आत्मसत्ता का अनुभव हुआ है, उसे जगत् के शब्द-अर्थ और रागद्वेष किसी का कल्पना नहीं रहती। उसको पुण्य-पाप का फल स्पर्श नहीं करता।

हे राम! ज्ञानसंवित् का नाश कभी नहीं होता। इससे विश्व भी अनुभवरूप है। इस जगत् का निमित्तकारण और समवायकारण कोई नहीं; क्योंकि वह अद्वैत है। और जो तुम कहो कि प्रत्यक्ष घटादिक समवाय और निमित्तकारण उपजते दीखते हैं, तो जैसे स्वप्न में कारण-कार्य अनहोते भी दिखते हैं, वैसे ही यह भी जानो। प्रथम तो स्वप्न में ये बने हुए दिखते हैं और पीछे कारण से होते दिखते हैं, वैसे ही यह भी जानो—केवल भ्रममात्र है। जैसे स्वप्नदृष्टि का जागने पर अभाव होता है, वैसे ही ज्ञान से इसका भी अभाव हो जाता है। यह दीर्घकाल का स्वप्न है, इससे जाग्रत् कहाता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने आप होती है और निद्रादोष से भिन्न दिखती है, वैसे ही यह जगत् अपना ही रूप है, परन्तु अज्ञान से भिन्न दिखता है। जाग्रत् में ज्ञान से सब अपना रूप भासित होता है, इससे राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। जैसे चन्द्रमा और चन्द्रमा की चाँदनी में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं—आत्मा ही जगत्रूप होकर भासित होता है। हे राम! तुम अपने अनुभव में स्थित होकर देखो कि सब ब्रह्मरूप है, जगत् कुछ नहीं। वह सर्वात्मकरूप और साध्य है। जैसे शरत्काल का आकाश शुद्ध निर्मल होता है, वैसे ही आत्मसत्ता स्फुरणरूपी बादल से परमशुद्ध और शान्तरूप है और उसमें स्थित होने से मान और मोह का अभाव हो जाता है, किसी पदार्थ की तृष्णा नहीं रहती। जीव प्रारब्धगति से जो कुछ आकर प्राप्त होता है, उसको भोगता है। वह आत्मदृष्टि द्वारा दुःख से रहित होकर प्रत्यक्ष आचार करता है। उसको शास्त्र का दण्ड नहीं रहता। वह परम शान्तरूप विराजता है।

इति॰नि॰नास्तिकवादीनिराकरणंनामद्विशताधिकदशमस्सर्गः२१०॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! मैं चिदाकाशरूप हूँ और द्रष्टा दर्शन दृश्य त्रिपुटी जो भासती है, वह भी चिदाकाशरूप है। आत्मसत्ता ही त्रिपुटीरूप होकर भासती है—दूसरी वस्तु कुछ नहीं। नास्तिकवादी जो यह कहते हैं कि परलोक कोई नहीं, अर्थात् जो कहते हैं कि आत्मसत्ता कोई नहीं, वे मूर्ख हैं। हे राम ! जो अनुभव आत्मसत्ता न हो तो नास्तिक किससे सिद्ध हो ? जिससे नास्तिकवाद भी सिद्ध होता है, वही आत्मसत्ता है। जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ में राग-द्वेष करते हैं और आत्मा का नाश कहते हैं, वे महामूर्ख हैं। जैसे जाग्रत् के प्रमाद से स्वप्न में इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष होता है, जीव इष्ट को ग्रहण करता और अनिष्ट को त्यागता है, जागने पर सब अपना ही स्वरूप दिखता है और ग्रहण-त्याग तथा राग-द्वेष किसी पदार्थ में नहीं रहता, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से किसी पदार्थ में राग होता है और किसी में द्वेष होता है। जब आत्मज्ञान होता है, तब सब अपना ही स्वरूप दिखता है और किसी में राग-द्वेष नहीं रहता। चित्त के फुरने से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के शान्त होने पर लय हो जाता है, इससे जगत् मन में स्थित है; और वह मन आत्मा के अज्ञान से हुआ है। जब आत्मज्ञान होता है, तब मनुष्य, देवता, हाथी, नाग आदि सब स्थावर-जङ्गम जगत् आत्मरूप दिखता है और किसी में राग-द्वेष नहीं रहता। नास्तिकवादी जो नास्ति कहते हैं, वही अस्ति का साक्षी सिद्ध होता है। जिससे नास्ति भी सिद्ध होता है, वह अस्ति आत्मपद है। उस अस्ति अनुभव के इतने नाम शास्त्रकार कहते हैं—सत्, आत्मा, विष्णु, शिव, चिदाकाश, ब्रह्म, अहंब्रह्म और अस्मि। एक कहते हैं कि शून्य ही रहता है और एक कहते हैं कि अस्ति पद रहता है।

हे राम ! ये सब संज्ञा आत्मसत्ता ही की हैं। वह आत्मसत्ता अपना ही आप स्वरूप है। वही आत्मा मैं हूँ। ये अङ्ग जो मेरे साथ दिखते हैं, इनको इष्ट पदार्थों से लेपन कीजिये अथवा चूर्ण करिये तो मुझे हर्ष या शोक कुछ नहीं होगा। इनके बढ़ने से मैं बढ़ता नहीं और इनके नष्ट होने से मैं नष्ट नहीं होता। हे राम ! तीन शब्द होते हैं—'मैं जन्मा हूँ',

'मैं जीता हूँ' और 'मैं मरूँगा'। जो प्रथम न हो और उपजे उसको जन्म कहते हैं, मध्य में जीता कहते हैं और फिर नाश हो उसको मृतक कहते हैं। पर आत्मा में तीनों विकार नहीं हैं। आत्मा उपजा भी नहीं, क्योंकि आदि ही सिद्ध है। वह मृतक भी नहीं होता, क्योंकि अविनाशी है। चैतन्य आकाश सबका और काल का भी अधिष्ठान है, फिर उसका कैसे नाश हो? वह तो उदय-अस्त से रहित है। जिसमें देश, काल, वस्तु और जगत् का किञ्चन होता है, उससे आत्मा का नाश कैसे हो? इससे आत्मा अविनाशी है। हे राम! जिस वस्तु को देश और काल का परिच्छेद होता है, उसका नाश भी होता है। ये देश, काल और वस्तु, तीनों आत्मा में कल्पित हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल कल्पित होता है, वैसे ही आत्मा में ये तीनों कल्पित हैं। कल्पित वस्तुओं से सत्य का नाश कैसे हो? इससे आत्मा अविनाशी और अद्वैत है, उसमें दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे शून्य स्थान में वैताल कल्पित होता है, वैसे ही आत्मा में जगत् कल्पित है। उस अभावरूप जगत् में जीव प्रमाद से एक का अभाव और दूसरे का सद्भाव जानता है। जब इस निश्चय को त्यागकर मोक्ष हो, तब शान्ति प्राप्त होगी। विचार करके देखिये तो इस संसार में दुःख कहीं नहीं। जो मरकर फिर जन्म लेता है, तो भी दुःख न होना चाहिए; क्योंकि शरीर जब वृद्ध होकर क्षीण हुआ, तब उसको त्यागकर नव तनु को ग्रहण किया तो उत्साह हुआ होना चाहिए। जो मृतक होकर फिर नहीं उपजता तो भी आनन्द होना चाहिए, क्योंकि जब तक जीता था, तब तक ताप था। एक का भाव जानता था, एक को ग्रहण करता था और एक को त्याग करता था। इससे संतप्त होता था। उनसे यदि छूटा तो बड़े आनन्द की बात है। और जो सब चिदाकाशरूप है तो भी अपना रूप आनन्दरूप है; दुःख कुछ न हुआ।

हे राम! एक प्रमाद से ही दुःख होता है, और किसी प्रकार दुःख नहीं होता। यह सब जगत् आत्मरूप है, और जब आत्मरूप है तो दुःख कैसे हो? जो तुम कहो कि मैं अपने कर्मों से डरता हूँ, जो पर-

लोक में मेरे लिए भय का कारण होंगे तो ऐसे जानो कि बुरे कर्म का दुःख-कष्ट यहाँ भी होता है और परलोक में भी होगा—इससे बुरे कर्म मत करो। मैं तुमसे ऐसा उपाय कहता हूँ, जिससे तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जायँगें। वह उपाय यह है कि तुम जानो 'मैं नहीं'; अथवा ऐसे जानो कि 'सब मैं ही हूँ'। सब वासनाएँ त्यागकर अपने को अविनाशी जानो और आत्मसत्ता में स्थित होओ। यह सब जगत् भी तुम्हारा ही रूप है। जब ऐसे आत्मा को जानोगे, तब शरीर के त्याग से भी कोई दुःख न रहेगा और शरीर के होते भी दुःख न होगा। यदि पूर्व शरीर को त्यागकर नया जन्म लिया तो भी आनन्द हुआ, परम शान्ति हुई। और जो चिदाकाशरूप है तो भी परम आनन्द हुआ! हे राम! सब प्रकार आनन्द है। केवल भ्रान्ति से दुःख होता है। जब स्वरूप का साक्षात्कार होगा, तब सब जगत् ब्रह्मानन्दस्वरूप प्रतीत होगा। हे राम! जिसको आत्मसत्ता का प्रकाश प्राप्त है, वह पुरुष सदा आनन्द में मग्न रहता है। वह प्रकृत आचार भी करता है, परन्तु इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में स्वरूप से चलायमान कभी नहीं होता। जैसे सुमेरु पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में चलायमान नहीं होता और परम गम्भीर रहता है। अतएव जो कुछ आत्मा से भिन्न उत्थान होता है, उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाओ, क्योंकि चिन्मात्रसत्ता शरत्काल के आकाश सदृश निर्मल है। जब ऐसे स्वच्छ केवल और चिन्मात्र का अनुभव होगा, तब जगत् द्वैतरूप न भासेगा और व्यवहार में भी द्वैत न फुरेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमउपदेशवर्णनं नाम द्विशताधिकैकादशस्सर्गः ॥ २११ ॥

राम ने पूछा, हे भगवन्! जिन पुरुषों को आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार हुआ है, वे कैसे हो जाते हैं और उनका कैसा आचार होता है, यह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे उनकी चेष्टा और जैसा उनका निश्चय होता है, सो सुनो। उनका सबके साथ मित्रभाव होता है, बल्कि पाषाण से भी मित्रता होती है। बन्धुओं को

वे ऐसे जानते हैं, जैसे वन के वृक्ष और पत्ते होते हैं, और स्त्री-पुत्रादिक के साथ वे वन के मृग के पुत्र से होते हैं। जैसे जंगली मृगों को सन्तान से स्नेह नहीं होता, वैसे ही वे पुत्रादिक में भी स्नेह नहीं करते। जैसे माता की पुत्र पर दया और ममता होती है, वैसे ही वे सब पर दया करते हैं, और निश्चय में उदासीन रहते हैं। जैसे आकाश किसी का स्पर्श नहीं करता, वैसे ही वे किसी से लिप्त नहीं होते। आपदा उनको परमसुख होती है। जितने जगत् में रस हैं, वे उनको विरस हो जाते हैं। वे न किसी में राग करते हैं और न किसी से द्वेष। वे तृष्णा करते भी दिखते हैं, परन्तु हृदय से जड़ और पत्थर की नाईं होते हैं। व्यवहार करते भी हैं, परन्तु निश्चय में परमशून्य और मौन होते हैं; अर्थात् सदा समाधि में स्थित रहते हैं। वे सब कर्म करते दिखते हैं, सो इस प्रकार करते हैं कि सब उनकी स्तुति करते हैं। वे यत्न से रहित सब कर्मों का आरम्भ करते हैं, परन्तु निश्चय से सदा अपने को अकर्ता मानते हैं। जो कुछ उन्हें प्रारब्ध गति से प्राप्त होता है, उसे भोगते हैं और देश-काल-कर्म, सबको अङ्गीकार करते हैं। जो परस्त्री आदि अनिष्ट आकर प्राप्त होते हैं उनका त्याग भी करते हैं, परन्तु निश्चय में सदा अकर्ता ज्यों के त्यों रहते हैं। वे सुख-दुःख की प्राप्ति में समबुद्धि रहते हैं। प्रकृत आचार यथाशास्त्र करते हैं, परन्तु स्वरूप से कभी विचलित नहीं होते। जैसे फूल की चोट से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता, वैसे ही दुःख-सुख की प्राप्ति से वे नहीं डिगते। वे सदा स्वभाव में स्थित रहते हैं और सुख-दुःख को भोगते भी दिखते हैं, पर उनके निश्चय में कुछ नहीं होता।

जैसे स्फटिकमणि के सम्मुख कोई रङ्ग रखिये तो उसमें झलकता है परन्तु उसका रूप कुछ और नहीं हो जाता, वह ज्यों की त्यों ही रहती है, वैसे ही सुख-दुःख के भोग ज्ञानवान् में भी दिखते हैं, परन्तु वे स्वरूप से कभी चलायमान नहीं होते। चेष्टा वे अज्ञानी की नाईं करतेहैं, परन्तु निश्चय से परमसमाधिस्थ हैं। जैसे अज्ञानी को भविष्यत् का राग-द्वेष या सुख-दुःख कुछ नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी को वर्तमान का राग-द्वेष

नहीं होता। उनकी स्वाभाविक चेष्टा ऐसी होती है—वह सबसे मित्र-भाव रखता है। न उससे कोई खिन्न होता है और न वह किसी से खिन्न होता है। जब उसे सुख प्राप्त होता है, तब वह रागवान् दिखता है और दुःख की प्राप्ति में द्वेषी दिखता है; परन्तु निश्चय से उसको हर्ष-शोक कुछ नहीं। जैसे नट स्वाँग लाता है और जैसा स्वाँग होता है, वैसी ही चेष्टा करता है—राजा का स्वाँग हो अथवा दरिद्री का, परन्तु निश्चय उसे अपने स्वरूप में ही होता है, वैसे ही ज्ञानवान् में सुख-दुःख दिखते हैं, परन्तु निश्चय उसका आत्मस्वरूप में ही होता है। वह पुत्र, धन, बान्धव आदि को बुलबुले की नाईं जानता है। जैसे जल में तरङ्ग और बुलबुले उठते हैं और फिर लीन भी हो जाते हैं, परन्तु जल को कुछ राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान् को राग-द्वेष कुछ नहीं होता। वह सब पर दया रखता है और पतित-प्रवाह में जो सुख-दुःख आकर प्राप्त होता है, उसको भोगता है। जैसे वायु दुर्गन्ध-सुगन्ध को साथ ले जाती है, परन्तु उसको उससे राग-द्वेष कुछ नहीं होता, वैसे ही ज्ञानवान् को राग-द्वेष नहीं होता। वह बाहर अज्ञानी की नाईं व्यवहार करता है, परन्तु निश्चय में जगत् को भ्रान्तिमात्र जानता अथवा 'सबब्रह्म' जानता है। वह सदा स्वभाव में स्थित रहता है और अनिच्छित प्रारब्ध को भोगता है, परन्तु जाग्रत् में सुषुप्ति की नाईं स्थित रहता है, भूत और भविष्य की चिन्ता नहीं करता और वर्तमान में बिचरता है—वह हृदय से शीतल रहता है और बाहर इष्ट-अनिष्ट दिखते हैं। पर हृदय से वह अद्वैतरूप है। ज्ञानवान् कर्म करता है, परन्तु कर्म में अकर्म को जानता है और जीता ही मृतक की नाईं है। हे राम! जैसे मृतक होता और उसको फिर जगत् की कलना नहीं फुरती, वैसे ही जिसको आत्मपद में अहंप्रत्यय हुआ है, उसको द्वैत नहीं भासता। प्रत्यक्ष व्यवहार उसमें दिखता भी है, परन्तु निश्चय में अर्थ शान्त हो गया है।

राम ने पूछा, हे भगवन्! ये ज्ञानी के जो लक्षण आपने कहे सो उनको वही जानें और कोई नहीं जानता; क्योंकि बाहर की चेष्टा तो

अज्ञानी के तुल्य ही है, पर हृदय से वे शान्तरूप हैं। ब्रह्मचर्य से भी हृदय में धैर्य होता है और तपस्या से भी राग-द्वेष कुछ नहीं फुरता। एक मिथ्या तपस्वी हैं, जो वैसे ही बन बैठते हैं। उनका निश्चय सत्यहै अथवा असत्य, वें असल हैं या नकली, यह कैसे जानिये ? वशिष्ठ बोले, हे राम ! यह निश्चय सत्यहो अथवा असत्य, ये लक्षण सन्त के ही हैं। आत्मा के साक्षात्कार का निश्चय मनुष्य अपने आपसे जानता है और किसी से नहीं जाना जाता, इस कारण उसका लक्षण ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जानता। जैसे सर्प के खोज को सर्प ही जानता है और कोई नहीं जानता, वैसे ही ज्ञानी का लक्षण स्वसंवेद्य है। हे राम ! ये जो गुण कहे हैं, सो ज्ञानवान् में स्वाभाविक ही रहते हैं, दूसरे को यत्नसाध्य हैं। ज्ञानवान् को सब जगत् भ्रान्तिमात्र है अथवा अनुभवदृष्टि से अपना रूप ही दिखता है, इसी कारण ज्ञानी परमशान्त है और उसके निश्चय में रागद्वेष नहीं फुरता। वह अपने निश्चय को बाहर नहीं प्रकट करता, पर जो अधिकारी है, वह उसको जानता है। जो अनधिकारी अज्ञानी है, वह उसको नहीं जान सकता। जैसे वन में चन्दन की बड़ी सुगन्ध होती है, परन्तु दूर से नहीं जान पड़ती, वैसे ही अज्ञानी उसके निश्चय से दूर है, इस कारण वह नहीं जान सकता। चर्मदृष्टि से उसको देखे तो नहीं देख सकता और वह अधिकारी विना जताता भी नहीं। जैसे अमूल्य चिंतामणि नीच को दीजिये तो भी वह उसके माहात्म्य को नहीं जानता, इससे उसका निरादर करता है, वैसे ही आत्मरूपी चिन्तामणि है, अनधिकारीअज्ञानी उसका माहात्म्य नहीं जानता, इससे उसका निरादर करता है—इसी कारण ज्ञानवान् उसे प्रकट नहीं करते।

हे राम ! यह जो प्रकट है कि हमको अर्थ की प्राप्ति होगी, हमारा मान होगा, हमारे चेले बनेंगे और हमारी पूजा होगी, उसे ज्ञानवान् गन्धर्वनगर और इन्द्रजाल की नाईं जानते हैं। फिर वे किसकी चाह करें ? इस कारण वे अनधिकारी को अपना इष्ट नहीं प्रकट करते, और जो कोई उनके निकट बैठता है तो भी अपने निश्चयरूपी अङ्ग को वे

सकुचा लेते हैं। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही वे अपने निश्चयरूपी अङ्ग को समेट लेते हैं, पर जिसको अधिकारी देखते हैं, उसके आगे प्रकट करते हैं। हे राम ! पात्र में रक्खा पदार्थ शोभा पाता है, अपात्र में रक्खा अशोभन हो जाता है। जैसे गौ को घास देने से वह दूध हो जाती है और सर्प को दूध देने से वह विष हो जाता है, वैसे ही अधिकारी को दिया उपदेश शुभ होता है और अनधिकारी को अनिष्ट हो जाता है। हे राम ! अणिमा आदि जो सिद्धियाँ हैं, वे जप, द्रव्य, काल अथवा देश से सबको प्राप्त होती हैं—अभ्यास के बल से अज्ञानी को भी प्राप्त होती हैं—और ज्ञानी को तो होती ही हैं, परन्तु ये ज्ञान का फल नहीं, जप आदिक का फल हैं। जिसकी सिद्धि के लिए जो पुरुष दृढ़ होकर लगता है, वही सिद्ध होता है। जो इन सिद्धियों का दृढ़ अभ्यास करता है तो उनसे आकाश-मार्ग में उड़ने और आने-जाने लगता है। पर ये पदार्थ तबतक अच्छे लगते हैं, जब तक आत्ममार्ग नहीं सूझता।

हे राम ! परम सिद्धता इनसे नहीं प्राप्त होती। परमसिद्धि आत्मपद है। जिसको आत्मपद की प्राप्ति हुईहै, वह इन सिद्धियों की अभिलाष नहीं करता। ऐसा पदार्थ पृथ्वी में कोई नहीं और न आकाश में देवताओं के स्थानों में ही है. जिसमें ज्ञानी का चित्त मोहित हो। ज्ञानवान् को सब पदार्थ मृगतृष्णा के जल से लगते हैं। मेरा सिद्धान्त तो यही है कि सदा विषयों से उपरत रहना और आत्मा को परम इष्ट जानना ही ज्ञान है। ज्ञानी को जो प्रारब्ध से प्राप्तहो, उसको वह करता है, परन्तु करने से उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और न करने में कुछ प्रत्यवाय भी नहीं होता। न किसी अर्थ का वह आश्रय करता है, न उसके निमित्त किसी भूत का आश्रय करता है, और सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित होता है। ऐसे निश्चय को पाकर उसे आश्चर्य होता है। वह कहता है कि बड़ा आश्चर्य है, जो सदा अपना स्वरूप है उसको भूल कर मैं इतने काल तक भरमता रहा। पर अब मुझको शान्ति प्राप्त हुई है। जगत् को देखकर वह हँसता है; क्योंकि यह जगत् आभासरूप

है और अपनी ही संवित् में स्थित है। जसे आरसी में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही अपनी संवित् में जगत् स्थित है। उसको जो द्वैत जानता है और राग-द्वेष से जलता है, ऐसे अज्ञानी को देखकर ज्ञानी हँसता है और व्यवहार करता भी हँसता है। जैसे किसी ने स्वप्न में हाथ में सुवर्ण दिया और फिर ले लिया और इसने उसको स्वप्न जाना तो चेष्टा करता है, परन्तु हँसता है और कहता है कि यह मेरा ही स्वरूप है, वैसे ही ज्ञानी व्यवहार करता भी अपने निश्चय में हँसताहै। जैसे किसी ग्राम में अग्नि लगे और एक पुरुष उस गाँव से निकलकर पर्वत पर जा बैठे, तब वह जलतों का देखकर हँसता है, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष भी संसाररूपी जलते नगर से निकलकर आत्मरूपी पर्वत पर जा बठा है और अज्ञानियों को जलता देखकर हँसता है, अर्थात् आप अशोक होकर उनको सशोक देखता है।

हे राम! जब ज्ञानवान् बोधदृष्टि से देखता है, तब अद्वैतसत्ता दिखती है, और जब अन्तवाहक में स्थित होकर देखता है, तब जैसे पदार्थ होते हैं, वैसा ही उनको देखता है और अपने को सदा शान्तरूप देखता है। मतलब यह कि जो आत्मतत्त्व परमानन्दस्वरूप है, उससे भिन्न जितने पदार्थ हैं वे सब दोषरूप हैं और सिद्धि आदि जितनी क्रिया हैं, वे संसार का कारण हैं। जैसे समुद्र में कई तरङ्ग बड़े और कई छोटे होते हैं, परन्तु समुद्र ही में हैं। समुद्र जिस तरङ्ग का आश्रय करेगा, वह सिद्धता को प्राप्त होगा और हिलने, डोलने, कहने से मुक्त होगा, वैसे ही सिद्धता आदि जो क्रिया हैं, वे कहीं बड़े ऐश्वर्य हैं और कहीं छोटे ऐश्वर्य हैं, परन्तु हैं संसार ही में। जो पुरुष इस क्रिया को त्यागकर अन्तर्मुख होगा, वह संसार-समुद्र से निकलकर आत्मारूपी पार को प्राप्त होगा। हे राम! जिस पुरुष को जिस पदार्थ का अभ्यास होता है, उसे वही प्राप्त होता है। जैसे पत्थर को नित्यप्रति घिसते रहिये तो वह भी चूर्ण हो जाता है, वैसे ही मनुष्य जिस पदार्थ का अभ्यास करता है, वही प्राप्त होता है। जिसको अभ्यास से आत्मपद प्राप्त होता है, वह सर्वदा परम श्रेष्ठ हो जाता है, सब जगत् से ऊँचे विराजता है

और परमदया की खान होता है। जैसे मेघ समुद्र से जल लेकर वर्षा करते हैं, सो उस जल का स्थान समुद्र ही होता है, तैसे ही जितने लोग दयालु दिखते हैं, वे ज्ञान के प्रसाद से ही दया करते हैं। दया का स्थान ज्ञानवान् ही है। ज्ञानवान् सबका हृदय है। जो कुछ प्रवाहपतित कार्य आकर प्राप्त होता है, उसे वह करता है, और जो शरीर को दुःख आकर प्राप्त होता है, उसे ऐसे देखता है, जैसे अन्य के शरीर को हो रहा हो। अपने में वह सुख-दुःख, दोनों का अभाव देखता है।

जिनको यह अभ्यास नहीं हुआ, वे शरीर के राग-द्वेष से संतप्त होते हैं। ज्ञानी को शान्ति युक्त देखकर औरों को भी प्रसन्नता हो आती है। जैसे पुण्य करके जो स्वर्ग को गया है, उसे वहाँ इष्ट पदार्थ दिखते हैं, कल्पवृक्ष की सुन्दर मञ्जरियाँ और सुन्दर अप्सरा आदि दिखती हैं, जिन पदार्थों को देखकर प्रसन्नता उपजती है, वैसे ही ज्ञान-वान् की संगति जो पुरुष करता है, उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतल करता है, वैसे ही ज्ञानवान् की संगति शीतलता उपजाती है। ज्ञानवान् आत्मपद को पाकर आनन्दित होता है और वह आनन्द कभी दूर नहीं होता, क्योंकि उसको उस आनन्द के आगे अष्टसिद्धियाँ तृण समान लगती हैं। हे राम! ऐसे पुरुषों का आचार और जिन स्थानों में वे रहते हैं, वह भी सुनो। कई तो एकान्त में जा बैठते हैं, कई शुभस्थानों में रहते हैं, कई गृहस्थी ही में रहते हैं, कई अवधूत होकर सबको दुर्वचन कहते हैं, कई तपस्या करते हैं, कई परम ध्यान लगाकर बैठते हैं, कई नंगे फिरते हैं, कई बैठे राज्य करते हैं, कई पण्डित होकर उपदेश करते हैं, कई परम मौन धारे हैं, कई पहाड़ की कन्दराओं में जा बैठते हैं, कई ब्राह्मण हैं, कई संन्यासी हैं, कई अज्ञानी की नाईं बिचरते हैं, कई नीच पामर होते हैं, कई आकाश में उड़ते हैं और नाना प्रकार की क्रिया करते दिखते हैं, परन्तु सदा अपने स्वरूप में स्थित हैं।

हे राम! देह और इन्द्रियाँ पुरुष नहीं और अन्तःकरण चतुष्टय भी

पुरुष नहीं, पुरुष केवल चिदाकाशरूप है। वह न कुछ करता है और न किसी से उसका नाश होता है। जैसे नट स्वाँग भरता और सब चेष्टा करता है, परन्तु नटभाव से अपने को असंग देखता है, वैसे ही ज्ञानवान् व्यवहार भी करते हैं, परन्तु अपने को अकर्ता और असंग देखते हैं। वे ऐसा निश्चय रखते हैं कि हम अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन हैं। हे राम ! इस प्रकार जिसको आत्मा में अहं प्रतीति हुई है, उसका नाश कैसे हो और वह बन्धन में कैसे पड़े ? वह पुरुष चाहे जैसे आरम्भ करे और चाहे जैसे स्थान में रहे, उसको बन्धन नहीं होता। चाहे वह पाताल में चला जाय, आकाश में उड़ता फिरे अथवा देशान्तर में घूमता फिरे, उसको न कुछ अधिक है और न कुछ न्यून है। पहाड़ में चूर्ण हो जाय तो भी वह चूर्ण नहीं होता। यह तो चैतन्य पुरुष है। शरीर का नाश होने से उसका नाश कैसे हो ? ऐसे अपने स्वरूप में वह सदा स्थित है और आकाश सदृश परम निर्मल, अजर, अमर और शिवपद है। इससे हे राम ! ऐसे जानकर तुम भी अपने स्वरूप में स्थित होजाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिक द्वादशस्सर्गः ॥२१२॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक भावमात्र, दूसरा भासमात्र और तीसरा भासितमात्र है। भावमात्र केवल चैतन्यमात्र को कहते हैं। उसमें जो चैत्योन्मुखत्व अहंकार का उत्थान हुआ, उसका नाम भास है, और उसमें जो जगत् हुआ, उसका नाम भासित है। भासित कल्पित का नाम है। कल्पित के नाश से अधिष्ठान का नाश नहीं होता। जो अधिष्ठान कुछ और भाव हो तो उसका नाश भी हो। वह तो और कुछ बना नहीं। उसके फुरने से तीन संज्ञा हुई हैं, अतएव फुरना भी उसी का किञ्चन है। आत्मा फुरने या न फुरने में ज्यों का त्यों है। जैसे स्पंदन और निस्पन्द वायु एक ही है, वैसे ही बोध और अबोध में आत्मा एक ही है। बोध, अबोध, फुरना, न फुरना एक रूप है। हे राम ! उस आत्मा का किससे और कैसे नाश हो ? चैतन्य भी मरता हो तो इसका किञ्चन जगत् कैसे रहे ? किञ्चन आभास को कहते हैं, वह

आभास अधिष्ठान के विना नहीं होता, इससे आत्मा का नाश नहीं होता। और तुम जो चैतन्य को भी मरता मानो कि मरकर फिर नहीं उपजता तो भी आनन्द की बात है। मेरा भी यही उपदेश है कि चेतनता मिटे। जब चेतनता उपजती है, तब जगत् भासित होता है। उसके मिटने पर आत्मा ही शेष रहेगा। ब्रह्म चैतन्य का तो नाश नहीं होता। जो तुम कहो कि वह चैतन्य नष्ट हो जाता है—यह और चैतन्य है, जिससे जगत् होता है, तो हे राम ! अनुभव तो एक ही है, उसका नाश कैसे मानिये ? जैसे बरफ़ शीतल है, चाहे किसी ठौर पान कीजिये वह सबको शीतल ही है, और अग्नि उष्ण ही है, चाहे जिस जगह से स्पर्श कीजिये, उष्ण ही अनुभव होता है, वैसे ही आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। वह एक अखण्डरूप है, जहाँ कोई पदार्थ दिखता है, उसी चेतनता से प्रकाशित होता है। वह चैतन्यसत्ता स्वच्छ, निर्मल और अद्वैत तथा सदा अपने आप में स्थित है; उसका नाश कैसे हो ?

जो तुम शरीर के नाश से आत्मा का नाश होता मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि शरीर यहाँ अखण्ड पड़ा है और वह परलोक में चेष्टा करता है। और पिशाच आदि का शरीर भी नहीं देख पड़ता। जो शरीर के बिना उसका अभाव होता हो तो उनका भी अभाव हो जाता। इससे शरीर का अभाव होने पर आत्मा का अभाव नहीं होता, क्योंकि शरीर के निर्जीव होने पर शरीर से कुछ चेष्टा नहीं होती, क्योंकि जीवकला में पुर्यष्टका नहीं है। शरीर तो अखण्ड पड़ा है, उससे कुछ नहीं होता और जीव परलोक में सुख-दुःख भोगता है, तो शरीर का नाश होने पर उसका नाश नहीं हुआ। जो तुम कहो कि सब स्वभाव उसमें रहता है तो सर्वदा उसको क्यों नहीं देखते ? उसी समय अपने को क्यों मृतक देखते हैं और बन्ध बान्धव, भाई, सब उसी समय क्यों मृतक जानते हैं ? जो तुम कहो कि जीवित धर्म से वेष्टित है, इसी से सब अवस्था का अनुभव नहीं करता, मृत्यु समय जब जीवत्व नष्ट हो जाता है तब मृतक होता है। तो जो ऐसा हो तो परलोक का अनुभव न

करे। पर ऐसा तो नहीं है, क्योंकि जब शरीरपात होता है, तब सब अवस्था को भी जानता है और परलोक में जो शब्द होता है, उसका अनुभव करता है, अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगता है और देश स्थान को प्राप्त होता है। यह बात शास्त्र से भी सिद्ध है और अनुभव से भी प्रसिद्ध है कि मृतक को किसी ने नहीं जाना और अभाव को किसी ने नहीं जाना। और जिसने जाना, वह आत्मा एक अखण्ड है—इससे हे राम! शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो नित्य शुद्ध है और जैसा निश्चय उसमें होता है, वैसा ही होकर भासित होता है और जैसा मिलता है, वैसा ही प्रकाशता है। ऐसा जो सत्य आत्मा है, वह किसी में नहीं बँधता जैसे रस्सी में सर्प का आकार भासित होता है, पर वह रस्सी सर्प तो नहीं हो जाती; जब कल्पित सर्प का अभाव हो जाता है, तब रस्सी ज्यों की त्यों रहती है, वैसे ही आत्मसत्ता आकार होकर भासित होती है, परन्तु आकार तो नहीं होती, जब आकार का अभाव हो जाता है, तब आत्मसत्ता ज्यों की त्यों रहती है, इसी कारण उसे बन्धन नहीं होता। ऐसी आत्मसत्ता में जो विकार दिखते हैं, वे भ्रममात्र हैं और भ्रान्ति से ही लोग दुःख पाते हैं।

हे राम! यह जगत् आभासमात्र है, और उस आभासमात्र में जो राग-द्वेष आदि फुरते हैं, उनकी निवृत्ति का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। जो कुछ उपदेश मैंने किया है, उसके विचारने से भ्रान्ति निवृत्त हो जायगी और आत्मपद की प्राप्ति होगी। अभ्यास के बिना जीव जो आत्मपद की प्राप्ति चाहे तो कभी न होगी। जब बारम्बार अभ्यास करेगा, तब दृढ़ तभ्रम मिट जायगा और आत्मपद प्राप्त होगा। जिसका कोई नित्य अभ्यास करता है और यत्न भी करता है, वह प्राप्त होता है। वह कौन पदार्थ है, जो अभ्यास से प्राप्त न हो? जो थककर फिरे नहीं और दृढ़ अभ्यास करे तो प्राप्त होता ही है। राज्य की लक्ष्मी तब प्राप्त होती है, जब रण में दृढ़ होकर युद्ध करते हैं और जय होती है। यदि केवल मुख से कहे कि मेरी जय हो तो नहीं होती। वैसे ही

आत्मपद भी तब प्राप्त होगा, जब दृढ़ अभ्यास करोगे—अभ्यास के बिना कहने भर से कुछ प्राप्त नहीं होता। हे राम! इस मन के दो प्रवाह हैं। एक जगत् का कारण है और दूसरा स्वरूप की प्राप्ति का कारण। जो असत् शास्त्र हैं और जिनमें आत्मज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा, उनको छोड़ो। यह जो महारामायण मोक्ष का उपाय है, उसमें चार वेद, षट्शास्त्र और सब इतिहासों और पुराणों का सिद्धान्त मैंने कहा है। इसके समान और न किसी ने कहा है, न कोई कहेगा। ऐसे शास्त्र के विचार में मन लगाओ तो शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होंगे।

हे राम! आत्मज्ञान वर और शाप की नाईं नहीं है कि कहने भर से सिद्ध हो। इसकी प्राप्ति तब होगी, जब बारम्बार विचार करके दृढ़ अभ्यास करोगे और जब इसकी भावना होगी, तब मुक्ति पाओगे। ऐसा कल्याण पिता, माता और मित्र भी न करेंगे, और तीर्थ आदि सुकृत से भी न होगा, जैसा कल्याण बारम्बार विचारने से मेरा उपदेश करेगा। इससे और सब उपायों को त्यागकर इसी का विचार करो तो सब भ्रान्ति मिट जायगी और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे राम! अज्ञान एक विसूचिकारोग है और उससे जीव जलते हैं। जो मेरे शास्त्र को विचारेगा, उसका रोग नष्ट हो जायगा। ईश्वर की यह महामाया है कि मिथ्याभ्रम से जीव दुखी होते हैं। जो अपना दुःख दूर करना चाहे, वह मेरा शास्त्र विचारे। जितने सुन्दर पदार्थ दिखते हैं, सब मिथ्या हैं। उनके लिए यत्न करना परम आपदा है। ये सब पदार्थ आपातरमणीय हैं। ये देखने भर को सुन्दर हैं, पर भीतर से खोखले हैं। इनकी प्राप्ति में मूर्ख आनन्द मानते हैं। हे राम! ये पदार्थ तब तक सुन्दर लगते हैं, जब तक मृत्यु नहीं आई। जब मृत्यु आवेगी तब सब काम रह जायँगे। इसलिए इनके निमित्त जो यत्न करते हैं, वे मूर्ख हैं। जिस काल में मृत्यु आती है, उस समय कष्ट प्राप्त होता है और यदि चन्दन का लेप कीजिये तो भी शांति नहीं मिलती। जिसके लिए जीव बड़े यत्न करता है, युद्ध करता है और प्राण त्यागता है, वह धन स्थिर नहीं रहता। एक दिन धन और प्राणी का वियोग हो

जाता है। और जब वियोग होता है, तब मनुष्य कष्ट पाता है। मैं ऐसा उपाय कहता हूँ, जिसमें यत्न भी थोड़ा हो और सुगमता से आत्मपद प्राप्त हो। जब शास्त्र के अर्थ में दृढ़ अभ्यास होता है, तब वह अजर, अमरपद प्राप्त होता है। इससे तुम बोधवान् हो और बोध करके अभ्यास का यत्न करो। जो यत्न न करोगे तो अज्ञानरूपी शत्रु दबावेगा। यदि उस शत्रु को मारना हो तो मान और मोह छोड़कर आत्मपद का अभ्यास करो।

हे राम ! जो पुरुष अब तक अज्ञानरूपी शत्रु को मारने और आत्मपद पाने का यत्न नहीं करते, वे परम कष्ट पावेंगे और संसाररूपी दुःख से कभी मुक्त न होंगे। इस कष्ट से निकलने का यही उपाय है कि महारामायण ब्रह्मविद्या का जो उपदेश है, उसको विचारकर अपने हृदय में धारणा करे। इस उपाय से भ्रान्ति मिट जायगी। यह महारामायण उपदेश सब सिद्धान्तों का सार है। और शास्त्रों से आत्मपद की प्राप्ति चाहे हो या न हो, परन्तु इसके विचार से अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। जैसे तिल की खली से तेल निकलना कठिन है, तिलों से ही तेल निकलता है, वैसे ही मेरा उपदेश तिल की नाईं है और अन्य उपदेश खली हैं। हे राम ! सम्पूर्ण शास्त्रों के मुख्य सिद्धान्तों का सार सिद्धान्त मैंने तुमसे कहा है। जो आत्मा सदा विद्यमान है, उसको लोग भ्रान्ति से अविद्यमान मानते हैं, इसलिए उसी के विद्यमान करने को सब शास्त्र यत्न करते हैं। पर जो उनके विचार से आत्मपद को विद्यमान नहीं जानता, वह मेरे उपदेश को विचारने से अवश्य आत्मपद को विद्यमान जानेगा, यह निश्चित है। हे राम ! और शास्त्रों के दृढ़ विचार और यत्न से जो सिद्धि होती है, वह इस शास्त्र के विचार से अनायास प्राप्त होगी। शास्त्रकर्ता का और लक्षण न विचारना, पर शास्त्र की युक्ति विचार देखनी है। जो कुछ सब शास्त्रों का सार सिद्धान्त है, वह मैंने तुमसे सुगममार्ग से कहा है। इसके विचार से इसकी युक्ति देखो। अज्ञानी जो कुछ मुझे कहते और हँसते हैं, सो मैं सब जानता हूँ, परन्तु मेरा दया का स्वभाव है,

इससे मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार वे नरकरूप संसार से निकलें। इसी कारण मैं उपदेश करता हूँ।

हे राम ! मैं जो तुमको उपदेश करता हूँ सो किसी अपने मतलब से नहीं करता कि मेरा कुछ अर्थ सिद्ध हो। जो कोई तुमको उपदेश करता है, सो सुनो। तुम्हारा जो कोई बड़ा पुण्य है, वही शुद्ध संवित् होकर मलिनसंवित् को उपदेश करता है। वह संवित् न देवता है, न मनुष्य है, न यक्ष है, न राक्षस है और पिशाच आदि भी नहीं है। केवल जो ज्ञानमात्र है, वही तुम हो, मैं भी वही हूँ और जगत् भी वही है। जब सब वही है तब वासना किसकी करनी है ? हे राम ! जीव के दुःख का कारण वासना ही है। जो पुरुष इस संसार-बन्धन के दुःख की चिकित्सा न करेगा, वह आत्महंता है और बड़े दुःख में जा पड़ेगा, जहाँ से निकलने की सामर्थ्य न होगी। इससे अब भी तुम मुक्ति का उपाय करो। जब तक सब भावों की वासना नहीं निवृत्त होती, तब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता–इसी का नाम बन्धन है। जब वासना क्षय होगी, तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। जितने पदार्थ दिखते हैं, वे सब अविचार-सिद्ध हैं, विचार करने से कुछ नहीं रहते। और जो विचार करने से न रहें, उनकी अभिलाषा करना व्यर्थ है। जो वस्तु होती हो, उसके पाने का यत्न भी करना ठीक है। जो वस्तु हो ही नहीं, उसके लिए यत्न करना मूर्खता है। ये जगत् के पदार्थ असत् हैं। जैसे खरगोश के सींग असत् हैं और मरुस्थल की नदी असत् होती है, वैसे ही यह जगत् असत् है। सम्यक्‌दर्शी ज्ञानवान् पुरुष जानता है कि यह जगत् खरगोश के सींगसदृश असत् और भ्रान्तिमात्र है। इसलिए इसके लिए यत्न करना मूर्खता है। जो पदार्थ कारण विना देख पड़े, उसको भ्रान्तिमात्र जानिये। आत्मा जगत् का कारण नहीं, इससे जगत् मिथ्या है। आत्मपद सब इन्द्रियों और मन से अतीत है और यह जगत् पाञ्चभौतिक है। जगत् मन और इन्द्रियों का विषय है और आत्मपद मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है। तो उसे जगत् का कारण कैसे कहिये ? जो अशब्दपद है, वह नाना प्रकार शब्द का कारण कैसे

हो और जो निराकार आत्मपद है सो पृथ्वी आदिक नाना प्रकार के भूत आकारों का कारण कैसे हो ?

हे राम ! जैसा कारण होता है, उससे वैसा ही कार्य उपजता है। आत्मा निराकार है और जगत् साकार, इसलिए निराकार साकार का कारण कैसे हो ? जैसे वट का बीज साकार होता है, इसलिए उसका कार्य वट भी साकार होता है और साकार से निराकार कार्य नहीं होता, वैसे ही निराकार से साकार कार्य भी नहीं होता। इससे इस जगत् का कारण आत्मा नहीं। वह न समवाय कारण है, न निमित्त कारण। निमित्त कारण तब होता है, जब कुछ द्वितीय वस्तु होती है। जैसे मृत्तिका से कुम्हार घट बनाता है, पर आत्मा तो अद्वैत है, वह निमित्त कारण कैसे हो ? और समवाय कारण भी तब होता है, जब साकार वस्तु होती है—जैसे मृत्तिका के परिणाम से घट बनता है—पर आत्मा निराकार अपरिणामी है, वह जगत् का कारण कैसे हो ? जो दोनों कारणों से रहित दिखे, उसे भ्रान्तिमात्र जानिये। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के आकार कारण के विना दिखते हैं, इसलिए वे भ्रान्तिमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी कारण के विना भ्रान्तिमात्र भासित होता है। आत्मा में जगत् कभी नहीं हुआ। जैसे प्रकाश में अँधेरा नहीं होता, वैसे ही आत्मा में जगत् नहीं है। यदि तुम कहो कि फिर दिखता क्या है तो उसी का किञ्चन भासित होता है, जो वही रूप है। जैसे चलती है तो भी वायु है और ठहरती है तो भी वायु है, चलने और ठहरने में कुछ भेद नहीं होता, और जैसे आकाश और शून्यता में भेद कुछ नहीं होता, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं है—वही आत्मसत्ता फुरने से जगत्रूप होकर भासित होती है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। कुछ द्वैत वस्तु नहीं है। जो लोग कहते हैं कि जगत् कर्मों से होता है सो असत्य है; क्योंकि कर्म भी बुद्धि से होते हैं जब आत्मा में बुद्धि ही नहीं तब कर्म कैसे हो ? और जब कर्म ही नहीं तो जगत् कैसे हो ?

जैसे खरगोश के सींग के धनुष से बाण चलाना असत्य है, वैसे ही कर्म से जगत् का होना असत्य है। एक कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु से जगत् हो जाता है। पर यह भी असत्य है; क्योंकि जो सूक्ष्म परमाणु परिणाम से जगत्‌रूप हुए होते तो बुद्धिरूप जगत् न दिखता। पर यह तो बुद्धिरूप क्रिया होती दिखती है। जो परमाणु से जगत् होता तो इन्हीं से बढ़ता जाता; क्योंकि जो परमाणु जड़ हैं, वे ही बढ़ते हैं। पर ऐसा तो नहीं होता। बुद्धिपूर्वक चेष्टा होती दिखती है। इसी से कहा है कि वे असत्य कहते हैं;क्योंकि सूक्ष्म भी किसी से उत्पन्न होना चाहिए और कोई उसके रहने का स्थान भी चाहिए; पर आत्मा में देश, काल और वस्तु तीनों कल्पित हैं। जब आत्मा में ये न हुए तो परमाणु कैसे हो और जगत् कैसे हो ? आत्मा अद्वैत है, इससे जगत् न उपजा है और न नष्ट होता है। जो जगत् उपजा होता तो नष्ट भी होता। जो उपजा ही नहीं तो वह नष्ट कैसे हो ? आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। इससे हे राम ! मैं, तुम और सब जगत् आकाशरूप है। किसी के साथ आकार नहीं—सब निराकाररूप है। जो तुम कहो कि फिर बोलते-चालते क्यों हैं, तो जैसे स्वप्न में सब आकाशरूप होते हैं, पर नाना प्रकार की चेष्टा करते और बोलते-चालते हैं, वैसे ही ये भी बोलते-चालते हैं, परन्तु आकाशरूप हैं। तुम्हारा जो स्वरूप है, वह भी सुनो। देश को त्यागकर देशान्तर को जो संवित् जाती है, और उसके मध्य जो ज्ञानसंवित है वही तुम्हारा स्वरूप है। वह अनामय और सब दुःखों से रहित है। जैसे जब जाग्रत् दशा को त्यागकर जीव स्वप्न में जाता है, तब जाग्रत् त्याग दिया हो और स्वप्न न आया हो, ऐसे मध्य काल में जो अचेत चिन्मात्र सत्ता है, वही तुम्हारा स्वरूप है। उसमें पण्डितों और ज्ञानवानों का निश्चय है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक उसी में स्थित रहते हैं, उनका कभी उत्थान नहीं होता। जैसे बरफ़ से अग्नि कभी नहीं उपजती, वैसे ही उनका स्वरूप से उत्थान कभी नहीं होता। वह आत्मसत्ता न उपजती है, न विनशती है और न और की और होती है—सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है।

हे राम ! जितना कुछ जगत् तुम देखते हो, सो वास्तव में कुछ उपजा नहीं—भ्रम से भासता है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के आरम्भ होते दिखते हैं और जागने से उनका अत्यन्त अभाव दिखता है, वैसे ही यह जगत् भी है। आदि में जो अद्वैत तत्त्व में स्वप्न हुआ है, उसमें ब्रह्मा उपजे और उन्होंने आगे जगत् रचा। वह ब्रह्मा भी आकाशरूप हैं। स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ—सब असत्रूप है। जैसे स्वप्न में नदी और पर्वत दिखते हैं, परन्तु उपजे नहीं, अनुभवसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है, वैसे ही ब्रह्मा से लेकर तृण तक जगत् सब असत्रूप है। जिसको तुम ब्रह्मा कहते हो, वह वास्तव में उपजे नहीं, तब उनसे जगत् की उत्पत्ति मैं तुमसे कैसे कहूँ ? जैसे मरुस्थल की नदी ही उपजी नहीं तो उसमें मछलियाँ कैसे कहिये, वैसे ही आदि में ब्रह्मा नहीं उपजे तो उनमें जगत् कैसे उपजा कहिये ? केवल आत्मचतन्य-सत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। यह जगत् भी वही है, परन्तु अज्ञान से विपर्ययरूप प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न में पुरुष अनुभवरूप होता है और अपने प्रमाद से नाना प्रकार के पदार्थ और पर्वत, जल, पृथ्वी, जन्म, मरणादिक विकार देखता है, परन्तु हुआ कुछ नहीं, आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है और अज्ञान से सब भासते हैं, वैसे ही इस जगत् को भी जानो। आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। सब चिदाकाशरूप है। अज्ञान से आत्मसत्ता ही जगत्रूप भासित होती है। इससे हे राम ! जिसके अज्ञान से यह जगत् भासता है और जिसके ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, ऐसे आत्मतत्त्व को पाने का यत्न करो। वह नित्य, शुद्ध, परमानन्दस्वरूप और सदा अपने स्वभाव में स्थित है। वही तुम्हारा अनुभवरूप है, जो सदा अनुभव से प्रकाशित होता है। उसमें स्थित होने में क्या कायरता करनी है ? हे राम ! सब प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही आत्मा में जगत भ्रममात्र है। इससे उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वपदार्थभाववर्णनं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जिस प्रकार यह जगत् आभास फुरा है और भासित होता है, यह भी सुनो। आदि जो शुद्धअचेत चिन्मात्र है, उसमें जब चेतनता फुरती है, तब वह वेदन होती है। उसमें शब्द-तन्मात्रा होती है। फिर उसमें आकाश उत्पन्न होता है। फिर स्पर्श की इच्छा होती है, तब वायु उपजती है। जब आकाश में क्षोभ होता है, तब उस वायु और आकाश के संघर्षण से अग्नि उपजती है। जब अग्नि में उष्णस्वभाव होता है, तब जल उत्पन्न होता है, अर्थात् जब तेज की अधिकता होती है, तब जल उत्पन्न होता है। जब स्वेद-सा जल बहुत इकट्ठा होता है, तब उसमें पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार आकाश और वायु से जल और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। तब तत्त्वों से शरीर उपजते हैं और स्थावर-जङ्गम नाना प्रकार का जगत् दिखता है। वह सब पाञ्चभौतिक है। वास्तव में न पञ्चभूत हैं, न कोई उपजता है और न नष्ट होता है, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में आरम्भ-परिणाम-सहित नाना प्रकार का जगत् भासित होता है, परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं, आत्मसत्ता ही जगत् के आरम्भ-परिणाम-सहित भासती है, परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं, आत्म-सत्ता ही चित्त के फुरने से जगत्‌रूप भासती है, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी जानो। हे राम ! यह सब जगत् अपना अनुभवरूप है, पर भ्रम से आकारसहित दिखता है। जब भली भाँति विचार करके देखिये तब जगत्‌भ्रम मिट जाता है, केवल चैतन्य आत्मतत्त्वमात्र शेष रहता है। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में नाना प्रकार के क्षोभ होते हैं, और जब जागता है तब एक आप ही रहता है, वैसे ही आत्मसत्ता में जागने से अद्वैत-ही-अद्वैत भान होता है।

हे राम ! जो बोधसमय में द्वैत कुछ न भासित हो तो अबोध के समय भी जानिये कि द्वैत कुछ नहीं हुआ, और जो बोध के समय सत्य भासित हो तो जानिये कि सर्वदा यही सत्ता है। हे राम ! यह निश्चय धरो कि जगत् कुछ वस्तु नहीं—जैसे आकाश में नीलता, किरणों में जल और रस्सी में सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत्

दिखता है और विचार करने से कुछ नहीं पाया जाता । हे राम ! अपनी कल्पना ही जीव को जगत्रूप भासित होती है, और कुछ नहीं । जैसे स्वप्न की सृष्टि अपनी कल्पना है, परन्तु निद्रादोष से अपने से भिन्न दिखती है और उसमें राग-द्वेष उपजता है, पर जागने पर सब क्षोभ मिट जाते हैं, वैसे ही अज्ञान से जगत् सत्य लगता है और उसमें राग-द्वेष भासित होते हैं और ज्ञान से शान्त हो जाते हैं । हे राम ! यह जगत् भ्रममात्र है । ज्ञानवान् के निश्चय में सब चिदाकाश है और अज्ञानी के निश्चय में जगत् है । यदि बड़े क्षोभ प्राप्त हों तो भी वे ज्ञानवान् को डिगा नहीं सकते, क्योंकि उसके निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता, वह सदा एकरस रहता है । यदि प्रलयकाल के मेघ गर्जें, समुद्र उमड़ें और पहाड़ के ऊपर पहाड़ पड़ें, जिससे भयानक शब्द हों तो भी ज्ञानवान् के निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता । जैसे कोई पुरुष सोया पड़ा हो तो उसके स्वप्न में बड़े क्षोभ होते हैं और जाग्रत् को निकट बैठे भी नहीं भासित होते, वैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में द्वैत कुछ नहीं भासता; क्योंकि है नहीं । और अज्ञानी को होते भासते हैं । जैसे बन्ध्या स्त्री स्वप्न में अपने पुत्र को देखती है, सो अनहोता भी वह भ्रम से उसको भासता है, वैसे ही अज्ञानी को अनहोता जगत् सत्य लगता है ।

हे राम ! भ्रम से अनहोता जगत् दिखता है और होते का अभाव प्रतीत होता है । जैसे बन्ध्या अनहोते पुत्र को देखती है और पुत्रवाली स्वप्न में पुत्र का अभाव देखती है, वैसे ही अज्ञान से अनहोता जगत् सत् भासित होता है और सदा अनुभवरूप आत्मा का अभाव प्रतीत होता है । सो भ्रम से ही और का और भासता है । दिन में सोया हुआ पुरुष स्वप्न में रात्रि देखता है और रात्रि को सोया हुआ स्वप्न में दिन देखता है, शून्यस्थान में नाना प्रकार के व्यवहार और अन्धकार में प्रकाश देखता है, सो भ्रम से ही देखता है। पृथ्वी पर सोया मनुष्य स्वप्न में आकाश पर दौड़ता फिरता है और अपने को गढ़े में गिरता देखता है । यह सब भ्रम से ही दिखता है । वैसे ही यह जाग्रत् जीव भ्रम से ही जगत् को

विपर्ययरूप देखता है। जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद नहीं। जैसे स्वप्न में मुर्दे भी बोलते-चालते दिखते हैं, जैसे स्वप्न में तुमको नाना प्रकार का जगत् दिखता है और जागकर कहते हो कि सब भ्रममात्र था, वैसे ही मुझको यह जाग्रत् जगत् भ्रममात्र जान पड़ता है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद नहीं। जैसे दो मनुष्य एक ही से होते हैं, और दो सूर्य हों तो उनमें कुछ भेद नहीं होता, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद न जानना। राम ने पूछा, हे भगवन् ! स्वप्न की प्रतिभा अल्पमात्र भासती है और मनुष्य शीघ्र ही जागकर कहता है कि वह भ्रममात्र थी और जाग्रत् में वह दृढ़ होकर भासती है। पर तुम दोनों को समान कैसे कहते हो ?

वशिष्ठ बोले, हे राम ! जिस प्रतिभा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह जाग्रत् कहाती है और जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और चित्त में स्मृति होती है, वह स्वप्न है। वह जाग्रत् और स्वप्न दो प्रकार का है–जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह जाग्रत् है और उसमें जब सो गया तब स्वप्न हुआ। उस स्वप्न में जगत् दिखा तो जहाँ जगत् दिखा वही उसका जाग्रत् होगया और जहाँ से सोया था, वह स्वप्न होगया। वहाँ जो स्वप्न भासित हुआ, उसको जाग्रत् जानो। मनुष्य लोगों से चेष्टा करने लगा। जब वहाँ से मृतक हो गया, फिर इस अवस्था में आया तो पिछली को स्वप्न जानने लगा। तो चित्त के भ्रम से स्वप्न को जाग्रत् देखा और जाग्रत् को स्वप्न देखा। हे राम ! यह क्या हुआ ? जैसे किसी को स्वप्न आया और उसमें अपनी चेष्टा और व्यवहार करने लगा, तब फिर उसमें स्वप्न हुआ, उस स्वप्नान्तर से जागा तो फिर उस पहले स्वप्न में आया तो उसको स्वप्न जानने लगा और उस स्वप्नको जाग्रत् जानने लगा। हे राम ! जैसे वह स्वप्नान्तर से जागकर उसको स्वप्न कहता है और स्वप्न को जाग्रत् कहता है, वैसे ही यहाँ जाग्रत् स्वप्नरूप है और आगे जो होता है, वह स्वप्नान्तर है। एक और प्रकार है। जो इस जाग्रत् में मृतक हुआ, शरीर छूट गया, तब परलोक देखता है तो वह परलोक जाग्रत् हो गया और इस जाग्रत् को जीव स्वप्न जानने लगा। जैसे स्वप्न

से जागा स्वप्न को भ्रम कहता है, वैसे ही इस जाग्रत् को परलोक में भ्रम जानता है। फिर परलोक में स्वप्न आया, तब परलोक की जाग्रत् अवस्था स्वप्नवत् हो गई। और जो स्वप्न में सृष्टि देखी उसको जाग्रत् जानता है। फिर वहाँ से मृतक होकर यहाँ आया, तब यह जाग्रत हो गई और परलोक स्वप्न हो गया। इससे हे राम! स्वप्न और जाग्रत् दोनों मिथ्या हैं। जब मूर्ख स्वप्न से जागते हैं, तब वे जानते हैं कि इसका नाम जागना है और इसको जाग्रत् मानते हैं और उसको स्वप्न जानते हैं। पर वास्तव में वह स्वप्नान्तर है और यह स्वप्न। इसमें जो तीव्रसंवेग हो रहा है, इससे इसको जाग्रत् और उसको स्वप्न जानते हैं, पर दोनों तुल्य हैं, कुछ भेद नहीं।

आत्मा में दोनों असत्‌रूप हैं और इनकी प्रतिभा भ्रममात्र भासती है। आत्मा न कभी उपजता है, न मरता है। और उपजता भी है और मरता भी है। उपजता इस कारण से नहीं कि पूर्व-सिद्ध है और मरता इस कारण नहीं कि भविष्यत्‌काल में भी सिद्ध है। परलोक में सुख-दुःख भोगता है और भ्रमकाल में जन्मता भी है और मरता भी है। सो प्रत्यक्ष भासित होता है, पर वास्तव में ज्यों का त्यों है। हे राम! यह जगत् उसका आभास है और चैत्य का चमत्कार चैतन्य होकर भासित होता है। जैसे घट मृत्तिकारूप है—मृत्तिका से भिन्न नहीं, वैसे ही चेतन भी चैतन्यरूप है। चैतन्य से भिन्न जगत् नहीं—स्थावर-जङ्गम सब जगत् चिन्मात्र है। हे राम! जैसे तुमको स्वप्न आता है और उसमें पत्थर और पहाड़ दिखते हैं सो तुम्हारा ही अनुभवरूप हैं, भिन्न तो नहीं, वैसे ही यह सब दृश्य चिन्मात्र का रूप है। जैसे घट मृत्तिका से भिन्न नहीं वैसे ही यह जगत् चिदाकाश से भिन्न नहीं है। जैसे काष्ठ के पात्र काष्ठ से भिन्न नहीं सब काष्ठ ही हैं, वैसे ही जगत् चैतन्यरूप है—चैतन्य से भिन्न नहीं। जैसे पाषाण की मूर्ति पाषाण है, वैसे ही जगत् भी चैतन्यरूप है। जैसे समुद्र ही तरङ्गरूप होकर दिखता है, वैसे ही चैतन्य जगत्‌रूप होकर दिखता है। जैसे अग्नि उष्णरूप है, वैसे ही चैत्य चैतन्यरूप है। जैसे वायु स्पन्दनरूप है, वैसे चैतन्य चैत्यरूप है। जैसे वायु निस्स्पन्दरूप

है, वैसे चैतन्य चैत्यरूप है। जैसे पृथ्वी घन होती है और आकाश शून्य होता है—जहाँ घना या ठोस है वहाँ पृथ्वी है और जहाँ शून्यता है, वहाँ आकाश है—वैसे ही जहाँ चैत्य है वहाँ चैतन्य है। जैसे स्वप्न में शुद्ध संवित् पहाड़ और नदियों के रूप से भासती है, वैसे ही चिन्मात्रसत्ता जगत्रूप होकर भासती है। हे राम! जो कुछ पदार्थ तुमको दिखते हैं, उनको त्यागकर आत्मा की ओर देखो। यह सब विश्व आत्मरूप है। वह शुद्ध चिदाकाशरूप दुःखातीत और आकाश से भी निर्मल है, ऐसा जानकर उसमें स्थित होओ। हे राम! जब तुमको स्वभावसत्ता का अनुभव साक्षात्कार होगा, तब सब द्वैतकलना जो भासती है सो शान्त हो जायगी और केवल आत्मतत्त्वमात्र शेष रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नैकताप्रतिपादनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१४ ॥

राम ने पूछा, हे भगवन्! चिदाकाश कैसा है, जिसे तुम परब्रह्म कहते हो और उसका रूप क्या है? तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को पान करता मैं तृप्त नहीं होता, इससे कृपा करके कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे एक माता के गर्भ से दो पुत्र जुड़वा उत्पन्न होते हैं और उनका एकसा आकार होता है, पर जगत् के व्यवहार के लिए उनका नाम भिन्न-भिन्न होता है और भेद कुछ नहीं, और जैसे दो पात्रों में जल रखिये तो जल एक ही है पर पात्रों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही स्वप्न और जाग्रत् दो नाम हैं, परन्तु हैं एक ही से, किन्तु आत्मा में दोनों ही कल्पित हैं। जिसमें दोनों कल्पित हैं, वह चिदाकाश है। वृत्ति जो फुरती है और देशदेशान्तर को जाती है, उसके मध्य में जो ज्ञानरूप संवित् है, जिसके आश्रय से वृत्ति फुरती है, वह चिदाकाश संवित् है। वृक्ष जो रस को खींचकर ऊपर को जाते हैं सो उसी के आश्रय से जाते हैं। ऐसी जो सत्ता है, वह चिदाकाशरूप है। हे राम! जैसे सब वृक्ष फूल, फल, टास आदि सहित रस के आश्रय से उगते-बढ़ते हैं, वैसे ही यह सब जगत् चिदाकाश के आश्रय से फुरता है और उसी के आश्रय से वृत्ति फुरती है—वही सत्ता चिदाकाश है

जिसकी इच्छा सब निवृत्त हो गई है और रागद्वेषरूपी मल से हीन जो शरत्काल के आकाशसम निर्मल हो गया है, उसकी शुद्ध संवित् है। उसको चिदाकाश जानो।

हे राम ! जगत् का जब अन्त हुआ, पर जड़ता नहीं आई, उस मध्य काल में जो अद्वैत सत्ता है, वह चिदाकाश है। बेल, फूल, फल, गुच्छे और वृक्ष जिसके आश्रय से बढ़ते हैं, वह चिदाकाश है। रूप, अवलोक, मनस्कार, इन तीनों का जहाँ अभाव है, ऐसी शुद्धसंवित् ही चिदाकाश है। पृथ्वी, पर्वत और नदी आदि सबका जो आश्रय है, वह चिदाकाश है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, ये तीनों जिससे उपजे हैं और फिर जिसमें लीन होते हैं, वह अधिष्ठान सत्ता ही चिदाकाश है। जिससे सब उपजते हैं, जो यह सब है और जिसमें सब है ऐसा सर्वात्मा चिदाकाश है। अर्द्ध रात्रि को उठने पर इन्द्रियों की चपलता का विषय से अभाव होता है। उस काल में जो शान्तसत्ता होती है, वह चिदाकाश है।

हे राम ! जिस संवित् में स्वप्न की सृष्टि जगती है और फिर जाग्रत् भासती है और दोनों के करनेवाले में सोहता है, वह चिदाकाश है। जैसा फुरना होता है, वैसा ही जगत् में भासित होता है। वही द्रष्टा, दर्शन, दृश्य होकर भासता है, दूसरा कुछ नहीं। आत्मरूपी सूत्र में असत्य-सत्य जगत्रूपी मणि पिरोये हुए हैं। जिसके आश्रय से इनका फुरना होता है, वह चिदाकाश है। हे राम ! जिसके आश्रय से एक निमेष में जगत् उपजता ह और उन्मेष में लीन हो जाता है, ऐसी जो अधिष्ठान सत्ता है, उसको चिदाकाश जानो। यह सब जगत् मिथ्या है और भ्रान्ति से भासता है, जैसे मरुस्थल की नदी भासती है। इससे जो रहित है और जिसमें संकल्प-विकल्प का क्षोभ नहीं और सदा अपने आपमें स्थित और दुःख से रहित निर्विकल्प सत्ता ह वही चिदाकाश है। हे राम ! नेति-नेति के पीछे जो अनाद्यपद शेष रहता है, उसको तुम चिदाकाश जानो। शुद्ध चैतन्य आत्मसत्ता सबका अपना और अनुभव-रूप होकर प्रकाशित है। उसमें जैसा फुरना होता है कि ये ऐसे हैं वैसा ही भासित होता है। वह चिदाकाशरूप है। इससे शुद्ध आत्मसत्ता ही

फुरने से जगत्‌रूप होकर प्रकट होती है। जैसे जाग्रत् के अन्त में अद्वैत सत्ता होती है और फिर उससे स्वप्न की सृष्टि भासित होती है, पर स्वप्न की सृष्टि वास्तव में नहीं उपजी, वही अनुभव स्वप्न की सृष्टि होकर भासित होता है, वैसे ही यह जगत् जो कार्यरूप दिखता है, सो अविद्या से दिखता है, वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण दिखती है, वैसे ही यह सृष्टि अकारण है। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब स्थावर-जङ्गम जगत् चिदाकाशरूप है। कुछ उत्पन्न नहीं हुआ और जो दूसरा कुछ न हुआ तो कारण-कार्य भी कुछ न हुआ।

हे राम! न कोई द्रष्टा है, न कोई दृश्य है, न भोक्ता है और न भोग है, सब कल्पनामात्र है। आत्मा के अज्ञान से कल्पनाएँ उठती हैं और आत्मज्ञान से लीन हो जाती हैं—जैसे समुद्र के जाने से तरङ्ग-कल्पना मिट जाती है; क्योंकि अनुभव आत्मा में कारण-कार्य कुछ नहीं हुआ। जो तुम कहो कि कारण-कार्य क्यों भासित होते हैं, तो जैसे इन्द्रजाल की बाजी में नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं, परन्तु वास्तव कुछ नहीं बने, वैसे ही यह जगत् कारण-कार्य कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नगररूप होकर दिखता है, वैसे ही यह जगत् दिखता है। हे राम! आत्मसत्ता ही फुरने से जगत् की नाईं भासती है। जिस जगत् को इदम् रूप कहते हैं, वह अहंरूप है। जिसको समुद्र कहते हैं, वह भी अहंकाररूप है। जिसको रुद्र कहते हैं, वह अपना ही अनुभवरूप है। इत्यादि जो सब जगत् भासित होता है, वह भावनामात्र है। जिसकी जैसी भावना दृढ़ होती है, वैसा ही रूप होकर भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु में जैसी भावना होती है, वैसा ही सिद्ध होता है, वैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है, वैसी ही होकर भासित होती है। इससे जब चिदाकाश का निश्चय दृढ़ होता है, तब अज्ञान से जो विरुद्ध भावना हुई थी, वह निवृत्त हो जाती है।

इतिश्रीयो॰जगन्निर्वाणवर्णनंनामपञ्चदशाधिकद्विशततमस्सर्गः २१५॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! जब मन थोड़ा भी फुरता है, तब यह जगत् उत्पन्न हो आता है और जब फुरने से रहित होता है, तब जगत्-

भावना मिट जाती है। इस प्रकार जो जानता है, वह ज्ञानवान् है। वह पुरुष इन्द्रियों से देखता, सुनता, ग्रहण करता भी निर्वासनिक हो जाता है और जगत् की ओर से घनसुषुप्त होता है। हे राम ! जिसका मन निर्वासनिक और शान्त हुआ है, वह बोलता, चालता, खाता, पीता भी पाषाण-सदृश मौन हो जाता है—इससे यह जगत् कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे मृगतृष्णा की नदी अनहोती भासती है और भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासित होता है, वैसे ही मन के भ्रम से आत्मा में जगत् भासित होता है। आदिकारण से कुछ नहीं उत्पन्न हुआ। जिसका आदिकारण न पाइये, वह कारण भी असत्य जानिये। इससे सब जगत् कारण के विना ही भासता है, उपजा कुछ नहीं। हे राम ! जो पदार्थ कारण के विना भासता है और जिसमें भासता है वह अधिष्ठानसत्ता है, क्योंकि जो अधिष्ठान में भासित होता है उसको भी वही रूप जानिये और जो अधिष्ठान से व्यतिरेक भासित हो, उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे स्वप्न में इन्द्रियादिक पदार्थ भासित होते हैं और उसमें दृश्य दर्शन सब मिथ्या हैं, हुआ कुछ नहीं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी मिथ्या है। न कुछ उपजा है, न स्थित हुआ है। न आगे होना है और न नाश होता है। जब उपजा ही नहीं, तब नाश कैसे हो ? न कोई द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है; केवल चिन्मात्र-सत्ता अपने आपमें स्थित है।

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य क्या है और कैसे भासित होता है ? यह आपने पहले भी कहा है और अब फिर भी कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह दृश्य सब अदृश्यरूप है; अकारण ही दृश्य होकर भासित होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, जो कुछ जगत् विस्तारसहित दिखता है वह आदिस्वरूप है। जैसे स्वप्न में आकाश का वन दिखे और और पदार्थ दिखें सो वे सब चिदाकाश-रूप हैं, वैसे ही यह जगत् भी चिन्मात्ररूप है—कारण-कार्यभाव कहीं नहीं। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, तब प्रतीत होती है और निस्पन्द होने पर नहीं प्रतीत होती, वैसे ही आत्मा में जब चित्त फुरता है, तब

आत्मसत्ता जगत्रूप होकर भासती है। सो वही आत्मसत्ता भाव में अभावरूप है। जैसे आकाश में शून्यता है, वैसे ही आत्मा में जगत् आत्मरूप है। इससे जो कुछ भासित होता है, वह चैतन्य का आभास प्रकाश है और परमार्थसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है। इससे इतर कहिये तो न द्रष्टा है और न दृश्य है, आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों है। राम ने पूछा, हे ब्राह्मण, ब्रह्म के ज्ञाता! जो इसी प्रकार है तो कारण-कार्य का भेद कैसे होता दीखता है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! उसमें जैसा-जसा फुरना होता है, वैसा ही वैसा रूप होकर भासित होता है। चैतन्य आकाश ही जगत्रूप होकर भासता है, और न कहीं कारण हैं, न कार्य। जैसे स्वप्नसृष्टि जो कारण-कार्यसहित भासित होती है, वह किसी कारण से नहीं उपजी—अकारणरूप है, वैसे ही यह सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी, अकारणरूप है। न कहीं कर्त्ता है और न भोक्ता। केवल भ्रम से कर्ता-भोक्ता भासित होता है और स्वप्न की नाईं विकल्प उठते हैं—वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही है।

हे राम! जैसे स्वप्न में नगर और जगत् दिखता है, वह चिदाकाश अनुभवसत्ता ही ऐसे होकर भासित होती है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् सम्पूर्ण चिदाकाश है। जब ऐसे जानोगे, तब जगत् भी ब्रह्मतत्त्व दिखेगा। हे राम! यह जगत् चित्त के फुरने से उपजा है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है, वैसे ही चित्तभ्रम से जगत् की कल्पना होती है, पर इसका कारण ब्रह्म ही है। और कारण कहीं नहीं, क्योंकि महाप्रलय में चिदाकाश ही रहता है, अतः कारण किसका हो? वही सत्ता इन्द्र, रुद्र, नदियाँ, पर्वत आदि जगत् होकर भासती हैं। उससे भिन्न द्वैतरूप कुछ नहीं। इसमें जैसा-जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही रूप दिखता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में जैसी भावना होती है, वैसा ही रूप भासित होता है, वैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है, वैसा ही पदार्थरूप भासित होता है।

इति नि०कारणकार्याभाववर्णनं नामषोडशाधिकद्विशततमस्सर्गः २१६

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अचैत्य चिन्मात्र आकाशरूप आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है। शुद्धचिन्मात्र में जब अहं का स्फुरण होता है तब जगत् होकर भासता है। वही अहंरूप जीव जगत् में जीता दिखता है, परन्तु मृतक की नाईं स्थित है। और तुम, मैं आदि सब जगत् जीता, बोलता, चलता और व्यवहार करता भी दिखता है, परन्तु काष्ठवत् मौन स्थित है। आत्मरूपी रत्न की चमक जगत् है और वह प्रकाश आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे आकाश में तरुवर, मरुस्थल में जल और धुएँ के पर्वत मेघ भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही यह जगत्लक्षण भी भासता है, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, अवस्तु है—उपजा कुछ नहीं।

हे राम ! चित्तरूपी बालक ने जगत्-जालरूपी सेना रची है, सो असत्य है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि पंचभूत भ्रान्तिमात्र हैं और उनमें सत्य प्रतीति करना मूर्खता है। बालक की कल्पना में सत्य प्रतीति बालक ही करते हैं और जो इस जगत् का आश्रय करके सुख की इच्छा करते हैं, वे मानो आकाश के धोने का यत्न करते हैं। उनका सब यत्न व्यर्थ है। यह सब जगत् भ्रान्तिरूप है; इसमें आस्था करके जो इसके पदार्थ पाने का यत्न करते हैं, वे जैसे वन्ध्या स्त्री पुत्र पाने का यत्न करे वसे ही व्यर्थ है। जगत् में जो सुख के पाने का यत्न करते हैं, वह व्यर्थ यत्न है। हे राम ! ये पृथ्वी आदि जो सम्पूर्ण भूत पदार्थ दिखते हैं सो भ्रान्तिमात्र हैं। जब भ्रान्तिमात्र हैं तब इनकी उत्पत्ति किससे और कैसे कहिये ? जो मूर्ख बालक हैं, उनको पृथ्वी आदि जगत् के पदार्थ सत्य लगते हैं। ज्ञानवान् को ये सत्य नहीं दिखते और अज्ञानी को सत्य लगते हैं। पर उनसे हमको क्या प्रयोजन है ? जैसे सोये को स्वप्न में आत्म-अनुभवसत्ता ही पृथ्वी, पहाड़ और नदियाँ जगत् हो भासती हैं, पर वे सब आकार दिखने पर भी निराकाररूप हैं। वैसे ही यह जगत् आकारसहित दिखता है, परन्तु आकार कुछ बना नहीं, निराकारसत्ता ही जगतरूप भासित होती है। यह जगत् निराकार ही है, पर और कुछ नहीं, आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है।

इति श्री नि० भावप्रतिपादनन्नामसप्तदशाधिकद्विशततमस्सर्गः २१७

राम ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि जगत् अविद्यमान है, पर अज्ञान से स्वप्न की नाईं सत्य लगता है, इससे विद्यमान भी है; और जैसे स्वप्न का नगर शून्य है, वैसे ही यह जगत् अज्ञानरूप है। वह अज्ञान क्या है और अविद्या कितने काल की है, किसको होती है और इसका प्रमाण क्या है ? कृपा कर कहिए। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ तुमको जगत् दिखता है, वह सब अविद्या है। वह अविद्या अनन्त है। देश और काल से इसका अन्त कभी नहीं होता। जिसको अपने वास्तव स्वरूप का अज्ञान है, उसको यह सत् दिखाई देती है। इस पर एक इतिहास है, सो सुनिये। हे राम! आत्मरूप चिदाकाश के अणु में अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। उनमें से एक ब्रह्माण्ड इसी के समान है। उस ब्रह्माण्ड के जगत् में तुरमत नाम का एक देश है, जिसका राजा विपश्चित् था। वह एक समय अपनी सभा में बैठा था। उसके चारों ओर उसकी बड़ी तेजस्वी सेना उपस्थित थी। वह अग्नि देवता के सिवा और किसी देवता को न पूजता था। राजा बड़ी लक्ष्मी से शोभित और बहुत गुणों और ऐश्वर्य से सम्पन्न था। एक समय वह सभा में बैठा था कि पूर्व दिशा की ओर से हरकारा आया और उसने कहा, हे भगवन् ! तुम्हारा जो पूर्व दिशा का मण्डलेश्वर था, वह बुढ़ापे से मरकर मानो यमराज को जीतने गया है। इससे पूर्व दिशा की रक्षा करो, क्योंकि वहाँ और मण्डलेश्वर आ रहा है। हे राम ! इस प्रकार वह कहता ही था कि दूसरा हरकारा पश्चिम से आया और कहने लगा कि हे भगवन् ! तुमने जो पश्चिम दिशा का मण्डलेश्वर किया था, वह तप करते-करते मर गया है। वहाँ एक और मण्डलेश्वर आ रहा है, इसलिए वहाँ की रक्षा करो।

हे राम ! इस प्रकार दूसरा हरकारा कह ही रहा था कि एक और हरकारा आया। उसने कहा—हे भगवन् ! दक्षिण दिशा का मण्डलेश्वर पूर्व-पश्चिम की रक्षा के निमित्त गया था, सो मार्ग ही में मर गया, इससे दोनों की रक्षा के लिए सेना भेजो; क्योंकि एक प्रबल शत्रु आया है। अब और विलम्ब का समय नहीं है, शीघ्र सेना भेजिये।

हे राम! यह सुनकर राजा बाहर निकला और कहने लगा कि सब सेना मेरे पास होकर दिशाओं की रक्षा के लिए जावे। बड़े-बड़े शस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ आदि सेना ले जाओ। हे राम! इस प्रकार राजा कहता ही था कि एक और पुरुष आया और बोला कि हे भगवन्! उत्तर दिशा की ओर जो तुम्हारा मण्डलेश्वर था, उसके ऊपर और शत्रु आ गया है और बड़ा युद्ध हो रहा है, इससे उसकी रक्षा के लिए शीघ्र ही सेना भेजो। अब विलम्ब का समय नहीं है। मैं लौटा जाता हूँ, क्योंकि मेरा स्वामी युद्ध कर रहा है। हे राम! यों कहकर वह चला गया। तब द्वारपाल ने आकर कहा कि हे भगवन्! उत्तर दिशा का मण्डलेश्वर आया है। आज्ञा हो तो ले आऊँ। राजा ने कहा, ले आओ। वह उसे ले आया। उस मण्डलेश्वर ने राजा के सम्मुख आकर प्रणाम किया। राजा ने देखा कि उसके अङ्ग टूट गये हैं और मुख से रुधिर निकल रहा है। पर ऐसी अवस्था में भी उस धैर्यसंयुक्त मण्डलेश्वर ने कहा कि हे भगवन्! मेरे अंगों की यह दशा हुई है। मैं तुम्हारे देश की रक्षा करने को चला था, पर मेरे ऊपर शत्रु ने आक्रमण किया। मेरी सेना थोड़ी थी, इस कारण दौड़कर तुम्हारे पास आया हूँ कि प्रजा की रक्षा करो।

हे राम! जब इस प्रकार उसने कहा, तब राजा ने सब मन्त्रियों को बुलाया। मन्त्री राजा के पास आये और बोले, हे भगवन्! अब तीन उपाय छोड़कर चौथा उपाय करो, अर्थात् एक नम्रता, दूसरा धन देना और तीसरा बुद्धि का भेद, ये तीनों अब नहीं चल सकते। ये दुष्ट नम्रता माननेवाले नहीं हैं; क्योंकि नीच और पापी हैं। धन इस कारण न देना चाहिए कि ये अधीन हैं। और भेदभाव भी नहीं चलेगा, क्योंकि सब मिलकर इकट्ठे हुए हैं। इससे ये तीनों उपाय छोड़ो और चौथा उपाय करो—युद्ध करो। अब विलम्ब का समय नहीं है; क्योंकि उनकी सेना निकट आ गई है—अब उत्साहसहित कर्म करना है। केवल प्राणों की रक्षा नहीं चाहिए। हे राम! जब इस प्रकार मन्त्रियों ने कहा, तब राजा ने आज्ञा की कि सब सेना मेरी आज्ञा

से उनके सम्मुख जावें और निशान, नगाड़ें, हस्ती, घोड़ा, रथ, पियादे सेना के साथ जावें। इस प्रकार जब राजा ने कहा, तब सब सेना आकर स्थित हुई और नौबत-नगाड़े बजने लगे। जब नाना प्रकार के शस्त्रोंसहित चारों प्रकार की सेना इकट्ठी हुई, तब राजा ने कहा, हे साधु! तुम आगे जाओ। आगे सेना हो, उसके पीछे सेनापति जावें। जाकर शत्रुओं के साथ युद्ध करो। मैं भी स्नान करके आता हूँ। हे राम! इस प्रकार कहकर राजा ने मन्त्री को भेजा और आप गङ्गा-जल से स्नानकर एक स्थान में जो अग्नि-कुण्ड था, उसके निकट जाकर हवन करने लगा। जब अग्नि प्रज्वलित हुई, तब राजा ने कहा—हे भगवन्! इतना समय मुझे यथाशास्त्र आचरण करते व्यतीत हुआ है। मैंने अपनी प्रजा सुखी रखी, निष्कंटक राज्य किया, शत्रु को नष्ट करके सिंहासन के नीचे दबाया और आप सिंहासन पर बैठा हूँ। पातालवासी दैत्य भी मैंने जीत लिये हैं। दसों दिशाएँ अपने अधीन की हैं। सातों समुद्रों तक सब लोग मेरे भय से काँपते हैं और सब जगह मेरी कीर्ति फैल रही है। रत्नों से मेरे कोष भरे हुए हैं। वस्त्र, सेना, घोड़े और हाथी भी बहुत हैं। मैंने बड़े भोग भी भोगे और बड़े-बड़े दान भी किये हैं। सिद्ध और देवता भी मेरा यश गाते हैं। निदान सब ओर मेरा यश फैला है। अब शरीर भी बूढ़ा हुआ और क्षोभ भी बड़ा प्राप्त हुआ है, इससे अब मेरा जीने से मरना भला है।

हे भगवन्! मैं तुमको शीश निवेदन करता हूँ; कृपा करके स्वीकार करो। यदि मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे चार रूप दो, जिनसे मैं चारों ओर जाऊँ। और जब जहाँ मुझे कुछ कष्ट हो, वहाँ दर्शन देना। हे राम! इस प्रकार कहकर उसने खड्ग निकाला और अपना शीश काट-कर अग्नि में डाल दिया। तब धड़ भी आप ही अग्नि में जा पड़ा और शीश धड़ दोनों भस्म हो गये अथवा अग्नि ने भक्षण कर लिये। तब उसी की सी चार मूर्तियाँ कुण्ड से निकल आईं। वे उसी के से आकार, वस्त्र, भूषण, मुकुट, कवच और नाना प्रकार के शस्त्र धारण किये थीं। हे राम! तब बड़े तेजस्वी वे चारों राजा विपश्चित् के रूप

प्रकट हुए। रथ, हाथी, घोड़े, प्यादे और चारों प्रकार की सेना भी प्रकट हुई। निदान चारों ओर शत्रुओं से बड़ा युद्ध होने लगा। नगर जलने लगे, बड़ा हाहाकार होने लगा। शूरवीर युद्ध में उछल-उछलकर लड़ते और प्राण त्यागते थे। बड़े रुधिर के प्रवाह चलते थे, खड्ग और बरछी की वर्षा होती थी और अग्नि का अट्ट-अट्ट शब्द होता था--मानो समय बिना ही प्रलय होने लगा हो। निदान बड़ा युद्ध हुआ। जो सूरमा थे, वे युद्ध में मरने को जीना मानते थे और जीने को मरना जानते थे। ऐसा निश्चय धरके वे युद्ध करते थे। और जो कायर थे, वे भाग जाते थे—जैसे गरुड़ के भय से सर्प भाग जाते हैं। पर सूरमा सम्मुख होकर लड़ते थे। इस प्रकार बड़ा युद्ध होने लगा। रुधिर की नदियाँ बह चलीं, जिनमें हाथी, घोड़े, रथ और सूरमा बहते जाते थे। बड़े-बड़े वृक्ष और नगर गिरते और बहते जाते थे। मांसभक्षण के लिए योगिनियाँ भी आकर उपस्थित हुईं। जो-जो युद्ध में मरता, उसे अप्सराएँ और विद्याधरियाँ विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग को ले जाती थीं।

हे राम ! इस प्रकार जब युद्ध हुआ, तब राजा विपश्चित् की सेना सब शून्य हो गई अर्थात् थोड़ी रह गई। राजा ने सुना कि सेना बहुत मारी गई है, इसलिए उसने रथ पर सवार होकर देखा कि सेना थोड़ी रह गई है। तब एक एक राजा एक एक ओर को गया अर्थात् चारों राजा चारों ओर गये और विचार करने लगे कि यह महागम्भीर सेनारूपी समुद्र है। इसमें शस्त्र ही जल हैं, उनकी धार ही तरङ्ग है और सूरमा ही मच्छ हैं। इस समुद्र को मैं अगस्त्य की तरह पी जाऊँगा। ऐसे विचारकर उसने उद्यम किया, क्योंकि शत्रु की विशेष सेना देखी—एक तो सेना आगे ही को चली आती थी, दूसरे बहुत सूरमा तेज से सेना को जलाते थे और तीसरे बहुत सेना आती थी। ऐसी तीन प्रकार की सेना के राजा ने तीन उपाय किये। प्रथम उसने वायव्यास्त्र हाथ में लिया और परमात्मा ईश्वर को नमस्कार कर और मन्त्र पढ़कर पवन का अस्त्र चलाया। इससे अँधेरी छा गई और जितनी सेना आगे चली आती थी, वह सब उलटी उड़ने लगी। फिर उसने मेघ का अस्त्र चलाया।

तब वर्षा होने लगी और उससे जो तेज उनकी सेना को जला रहा था, वह शान्त हो गया। उसके बाद उसने शिव का अस्त्र चलाया। उसमें से प्रथम शस्त्रों की नदी चली, फिर त्रिशूलों की नदी चली, फिर चक्रों की नदी चली, फिर वज्र की नदी चली, बरछी की नदी चली, बिजली की नदी चली और अग्नि इत्यादिक की नदियाँ चलीं। दूसरे शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा हुई। जब इस प्रकार नदियाँ बह चलीं, तब जो कुछ सेना सम्मुख आती थी, वह मृतक हो गई। जैसे कमलिनी काटी जाती है, वैसे ही शूरवीर काटे गये। कोई पहाड़ों की कन्दराओं में गिरे और वहाँ से उड़कर समुद्र में जा पड़े और कोई सुमेरु की कन्दराओं में जाकर छिपे और समुद्र में जाकर डूबे—जैसे अज्ञानी विषयों में डूबते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से सेना शून्य हुई और चारों दिशाओं की सेना नष्ट हो गई। नीच से नीच देशों के और पहाड़ की कन्दराओं के रहनेवाले सब बहते जाते थे।

हे राम! कई शस्त्रों से और कई आँधी से उड़े, वे सब क्षेत्रों में जा पड़े। कई वन में और कई नीचे देशों में गिरे। जो पुण्यवान् थे, वे उत्तम क्षेत्र में जा पड़े और मृतक होकर स्वर्ग को गये, और पापी नीच देशों में जा पड़े, उससे दुर्गति को प्राप्त हुए। कई पिशाच हुए, कितनों को विद्याधरियाँ ले गईं और कई ऋषीश्वरों के स्थानों में जा पड़े। उनकी उन्होंने रक्षा की। इसी प्रकार कितने बाणों से छेदे हुए नष्ट हुए और कई रुधिर की नदियों में बहते समुद्र की ओर चले गये। हे राम! जब सब सेना नष्ट हो गई, तब आकाश शुद्ध हुआ। जैसे ज्ञानी का मन निर्मल होता है, वैसे ही आकाश अधिक क्षोभ से रहित हुआ। जब सब सेना समाप्त हो गई, तब चारों राजा आगे चले। हे राम! निदान चारों विपश्चित् चारों दिशाओं के समुद्रों तक जा पहुँचे। तब उन्होंने क्या देखा कि बड़े गहरे समुद्र हैं। कहीं रत्न, कहीं हीरा, मोती इत्यादि चमकते हैं। बड़े गहरे समुद्र में बड़े मच्छ और तरङ्ग उछलते हैं। रेती में नाना प्रकार के लौंग, इलायची, चन्दन इत्यादि के वृक्ष समुद्र तट पर जाकर देखे।

इति नि० विपश्चित्समुद्रप्राप्तिर्नाम द्विशताधिकाष्टादशस्सर्गः॥ २१८॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार राजा विपश्चित् समुद्र के पार जा पहुँचा, तब उसके साथ जो मन्त्री पहुँचे थे, उन्होंने राजा को सब स्थान दिखाये, जो बड़े गम्भीर थे। बड़े गम्भीर समुद्र, जो पृथ्वी को चहुँफेर घेरे थे, वे भी दिखाये और बड़े-बड़े तमालवृक्ष, बावलियाँ, पर्वतों की कन्दरा, तालाब और नाना प्रकार के स्थान दिखाये। ऐसे स्थान राजा को मन्त्री ने दिखाकर कहा, हे राजन् ! तीन पदार्थ बड़े अनर्थ और परमसार के कारण हैं—एक तो लक्ष्मी, दूसरा आरोग्य और तीसरा यौवनावस्था। जो पापी जीव हैं वे लक्ष्मी को पाप में लगाते हैं, देह के आरोग्य से विषयों का सेवन करते हैं और यौवन अवस्था में भी सुकृत नहीं करते, पाप ही करते हैं। और जो पुण्यवान् हैं, वे इन्हें मोक्ष में लगाते हैं अर्थात् लक्ष्मी से यज्ञादिक शुभकर्म और आरोग्य से परमार्थ साधते हैं और यौवन अवस्था में भी शुभ-कर्म करते हैं—पाप नहीं करते।

हे राम ! जैसे समुद्र और पर्वत के किसी स्थान में रत्न और किसी स्थान में घोंघे होते हैं, वैसे ही संसार-समुद्र में कहीं रत्नों की नाईं ज्ञानवान् होते हैं और कहीं अज्ञानीरूपी घोंघे होते हैं। हे राजन् ! यह समुद्र मानो जीवन्मुक्त है, क्योंकि जल से भी मर्यादा नहीं छोड़ता और रागद्वेष से रहित है। किसी स्थान में दैत्य रहते हैं, कहीं पंखों से युक्त पर्वत, कहीं वड़वाग्नि और कहीं रत्न हैं, परन्तु समुद्र को न किसी स्थान में राग है, न द्वेष। जैसे ज्ञानवान् को किसी में रागद्वेष नहीं होता, परन्तु सबमें ज्ञानवान् कोई बिरला ही होता है। जैसे जिस सीपी और बाँस से मोती निकलते हैं, वे बिरले ही होते हैं, वैसे ही तत्त्वदर्शी ज्ञानवान् कोई बिरला होता है। हे राम ! यहाँ की सम्पूर्ण रचना देखो कि कैसे पर्वत हैं, जिनके किसी स्थान में पक्षी रहते हैं, किसी स्थान में विद्याधर रहते हैं, कहीं देवियाँ विलास करती हैं, कहीं योगी रहते हैं और कहीं ऋषीश्वर, मुनीश्वर, कहीं ब्रह्मचारी, वैरागी आदि पुरुष रहते हैं। यह द्वीप है और सात समुद्र हैं जिनके बड़े तरङ्ग उछलते हैं, और पर्वत का कौतुक, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, तारे,

ऋषि, मुनि आदि को देखो। और देखो कि सबको आकाश स्थान दे रहा है, पर महापुरुष की नाईं आप सदा असंग रहता है। वह शुभ-अशुभ दोनों के लिए समान है। स्वर्गादिक शुभस्थान हैं और चाण्डाल, पापी आदि के निवासस्थान नरक अपवित्र हैं, परन्तु आकाश दोनों के लिए समान है—असंग होने के कारण निर्विकार है। जैसे ज्ञानी का मन सब स्थानों से निर्लेप होता है, वैसे ही आकाश सब पदार्थों से असंग, न्यारा है और महात्मा पुरुष की नाईं सर्वव्यापी है। हे आकाश! तू प्रकाशरूप है, तुझमें अन्धकार दिखता है—यह आश्चर्य है। हे आकाश! तू सबका आधार है। जो तुझको शून्य कहते हैं, वे मूर्ख हैं। दिन को तुझमें श्वेतता भासित होती है, रात्रि को अन्धकार भासित होता है और संध्याकाल में तुझमें लाली चमकती है; पर तू तीनों से न्यारा है। ये तीनों राजसी, तामसी और सात्त्विकी गुण हैं; पर तू इनके होते भी असंग है। हे आकाश! तू निर्मल है और तम तुझमें दिखता है, परन्तु तू सदा ज्यों का त्यों है। यह अनित्यरूप है। चन्द्रमा तुझमें शीतलता करता है, सूर्य दाहक होते हैं। तीर्थ आदिक पवित्र स्थान हैं और पापमय अपवित्र स्थान हैं; परन्तु तू सबमें एक समान ज्यों का त्यों रहता है। वृक्षों को बढ़ने और ऊँचे होने की सत्ता तू ही देता है। अपनी महिमा को तू आप ही जाने। और कोई तेरी महिमा जान नहीं सकता। तू निष्किञ्चन अद्वैत है; सबको धारण कर रहा है। सबका प्रयोजन तुझसे ही सिद्ध होता है। जल नीचे को जाता है, पर तू सबसे ऊँचा और व्यापक विभु है। अनेक पदार्थ तुझमें उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, पर तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जैसे अग्नि से चिनगारी उपजती और अग्नि ही में लीन हो जाती है, वैसे ही तुझमें अनन्त जगत् उपजते और लीन होते हैं और तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जो तुझको शून्य कहते हैं, वे मूढ़ हैं।

हे राजन्! ऐसा आकाश कौन है, यह भी सुनो। ऐसा आकाश आत्मा है, जो चैतन्य आकाश है, और जिसमें अनन्त जगत् उत्पन्न और लीन हो जाते हैं। उसको जो शून्य कहते हैं, वे महामूर्ख हैं। जो

सबका अधिष्ठान है, सबको धारण कर रहा है और सदा निःसंग है,ऐसे चिदाकाश को नमस्कार है। हे राजन् ! यह आश्चर्य है कि वह सदा एकरस है, पर उसमें नाना तरङ्ग भासित होते हैं—यही माया है। हे राजन् ! एक विद्याधरी और विद्याधर थे। उनके मन्दिर में एक ऋषि आ पहुँचा; पर उस विद्याधर ने उनका आदर-सत्कार नहीं किया। इससे ऋषीश्वर ने शाप दिया कि तू बारह वर्ष तक वृत्त होगा। निदान वह विद्याधर वृत्त हो गया। पर अब हम आये हैं, हमारे देखते ही वह शाप से मुक्त हो वृत्तभाव को त्यागकर फिर विद्याधर हुआ है। यह ईश्वर की माया है कि कभी कुछ हो जाता है, और कभी कुछ हो जाता है। हे मेघ ! तू धन्य है ! तेरी चेष्टा भी सुन्दर है। तीर्थों में सदा तेरी स्थिति है। तू सबसे ऊँचे विराजता है और सब आचार तेरा भला दिखता है, परन्तु एक तुझमें नीचता है कि ओले की वर्षा करता है जिससे खेती नष्ट हो जाती है और फिर नहीं उगती। वैसे ही अज्ञानी की चेष्टा देखने भर को सुन्दर है और हृदय मूर्ख है, उनकी संगति बुरी है। ज्ञानवान् की चेष्टा देखने में भली नहीं, तो भी उसकी संगति कल्याण करती है। हे राजन् ! सबमें नीच कुत्ता है; क्योंकि जो कोई उसके निकट आता है, उसे काट लेता है। वह घर-घर में भटकता फिरता और मलिन स्थानों में जाता है। वैसे ही अज्ञानी जीव श्रेष्ठ पुरुषों की निन्दा करता है, पर मन में तृष्णा रखता है और विषयरूपी मलिन स्थानों में गिरता है। वह मूर्ख मनुष्य मानो कुत्ता है, बल्कि कुत्ते से भी नीच है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् रचा है, परन्तु उसमें कुत्ता सबसे नीच है। पर कुत्ता क्या समझता है, सो सुनो।

एक पुरुष ने कुत्ते से प्रश्न किया कि हे कुत्ते ! तुझसे कोई नीच है, या नहीं ? तब कुत्ते ने कहा कि मुझसे भी नीच मूर्ख मनुष्य है, उसमें मैं श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि प्रथम तो मैं सूरमा हूँ; दूसरे जिसका भोजन खाता हूँ, उसकी रक्षा करता हूँ, और उसके द्वारे बैठा रहता हूँ; पर मूर्ख से ये तीनों कार्य नहीं होते। इससे मैं उससे श्रेष्ठ हूँ। मूर्ख को देहाभिमान है, इससे वह कुत्ते से भी नीच है। हे राजन् ! परम

अनर्थ का कारण देहाभिमान है। देहाभिमान से जीव परम आपदा को प्राप्त होता है। वह मूर्ख नहीं, मानो कौआ है, जो सबसे ऊँची टहनी पर बैठकर काँ-काँ करता है। हे राजन्! कमल की खान तालाब के निकट एक कौआ जा निकला तो क्या देखा कि भौंरे बैठे कमल की सुगन्ध लेते हैं। उनको देखकर वह हँसने लगा और काँ-काँ शब्द करने लगा। तब उसको देख भौंरे हँसे कि यह कमल की सुगन्ध क्या जाने। वैसे ही जिज्ञासु भौंरे के समान हैं, जो परमार्थरूपी सुगन्ध लेते हैं। जो अज्ञानी रूपी कौए हैं, वे परमार्थरूपी सुगन्ध को नहीं जानते। इस कारण मूर्ख को देखकर जिज्ञासु हँसते हैं, जो आत्मरूपी सुगन्ध को नहीं जानता। अरे कौए! तू क्यों हंस की बराबरी करता है? हंस तो मोती चुगनेवाले हैं और तू नीचस्थानों में रहनेवाला है। मन्त्री ने कहा, हे कोयल! तुम कमल को देखकर क्या प्रसन्न होती हो? प्रसन्न तो तब हो, जब वसन्तऋतु हो; पर यह तो वर्षाकाल है—ये फूल ओलों से नष्ट हो जावेंगे।

हे राजन्! कोयलरूपी जो जिज्ञासु हैं, उनको यह उपदेश है। हे जिज्ञासु! जो सुन्दर पदार्थ तुमको दिखते हैं, उनको देखकर तुम क्यों प्रसन्न होते हो? प्रसन्न तो तब हो, जो ये सत्य हों, पर ये तो मिथ्या हैं और अविद्या के रचे हैं। तुम क्यों प्रसन्न होते हो? अपनी बिरादारी में जाकर बठो और अज्ञानी का संग छोड़ दो। जैसे कौआ हंसों में जा बठता तो भी उसका चित्त गन्दगी खाने में लगा होता है और हंस के आहार मोतियों की ओर देखता भी नहीं, वैसे ही अज्ञानी जीव कभी सन्तों की संगति में जा बैठता है, तो भी उसका चित्त विषयों की ओर ही घूमता रहता है, स्थिर नहीं होता। जैसे कोयल का बच्चा कौए को माता-पिता जानकर उनमें जा बैठता है, तब उनकी संगति से वह भी गन्दगी खानेवाला हो जाता है। इससे कोयल उसको वर्जन करती है कि अरे बेटा! तू कौए की संगति में मत बैठ, अपने कुल में बैठ; क्योंकि तेरा भी नीच आहार हो जायगा। वैसे ही जिज्ञासु जो अज्ञानी का संग करता है, तो उसके अनुसार उसको भी विषयों

की तृष्णा उत्पन्न होती है। तब ज्ञानी उसको बर्जन करते हैं कि रे जिज्ञासु ! तू मूर्ख अज्ञानियों में मत बैठ। अपना कुल जो सन्तजन हैं, उनमें बैठ। जैसे कोयल के बच्चे को कौए सुख देनेवाले नहीं होते, वैसे ही मूर्ख तुझको सुख देनेवाले नहीं होंगे। मन्त्री फिर कहने लगा—अरी चील ! तू क्यों हंस की बराबरी करती है ? तू भी बहुत ऊँचे उड़ती है, परन्तु तुझमें हंस का कोई गुण नहीं है। जब तू मांस को पृथ्वी पर देखती है, तब वहाँ गिर पड़ती है, पर हंस नहीं गिरते। वैसे ही जो मूर्ख हैं, वे सन्तों की तरह ऊँचे कर्म भी करते हैं, परन्तु विषयों को देखकर गिरते हैं; पर संत नहीं गिरते। तो मूर्ख सन्तो की बराबरी कैसे करें ? फिर मन्त्री ने कहा, हे बगले ! तू हंस की बराबरी क्या करता है ? अपने पाखण्ड को छिपाकर तू अपने को हंस की नाई उज्ज्वल दिखाता है, पर जब मछली निकलती है, तब तू खा लेता है। यही तुझ में अवगुण है। हंस मानसरोवर के मोती चुगनेवाले हैं, और तू गढ़े में से तृष्णा करके मछली खानेवाला है। तू क्यों अपने को हंस मानता है ? वैसे ही अज्ञानी जीव विषयों की तृष्णा करते हैं और ज्ञानवान् विवेक से तृप्त हैं। उनकी बराबरी अज्ञानी क्यों करता है ?

हे राजन् ! जो हंस हैं, वे सदा अपनी महिमा में रहते हैं और अपना जो मोती का आहार है, उसको करते हैं; दूसरे किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करते। जैसे चन्द्रमुखी कमल चन्द्रमा को देखकर शोभा पाते हैं—चन्द्रमा विना शोभा नहीं पाते, वैसे ही बुद्धि भी तब शोभा पाती है, जब ज्ञान का उदय होता है—आत्मज्ञान के विना बुद्धि शोभा नहीं पाती। बड़े-बड़े सुगन्धवाले वृक्षों का माहात्म्य भौंरे ही जानते हैं, और जीव नहीं जानते। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे राम ! समुद्र के किनारे पर राजा विपश्चित् से मन्त्रियों ने ऐसे कहकर फिर कहा, हे राजन् ! अब पृथ्वीनगर के मण्डलेश्वर स्थापित करो। हे राम ! जब मन्त्री ने ऐसे कहा, तब सब दिशाओं के मण्डलेश्वर स्थापित किये गए। तब चारों राजा, जो अपनी-अपनी दिशा के समुद्र पर बैठे थे, उन्होंने अपने-अपने मन्त्री से कहा, हे साधु ! अब हमने समुद्रपर्यन्त दिग्विजय

की है और हमारी जय हुई है। अब चैत्य जो दृश्य है, उस दृश्य विभूति को देखो। समुद्र के पार द्वीप है, फिर उस समुद्र के पार और द्वीप है; फिर समुद्र है और फिर द्वीप है। इसी प्रकार सात द्वीप और सात समुद्र हैं, पर उनके आगे क्या है? इस प्रकार सब दृश्य देखने की इच्छा करके उन्होंने अग्निदेवता का आवाहन किया। उनकी दृढ़भावना से अग्नि-देवता सम्मुख आकर स्थित हुए और बोले, हे राजन्! जो कुछ तुमको कामना हो, सो माँगो। राजा ने कहा, हे भगवन्! ईश्वर की माया से पाञ्चभौतिक दृश्य में जो प्राणी हैं, उनको देखने की मेरी इच्छा है। उसे पूर्ण करो। हे देव! हम इसी शरीर से दृश्य देखने जावें, और जब यह शरीर न चल सके, तब मन्त्रसत्ता से जावें। पर जहाँ मन्त्र की भी गति नहीं, वहाँ सिद्धि से जावें। और जहाँ सिद्धि की भी गति नहीं, वहाँ मन के वेग से जावें और मृतक भी न हों। यह वर हमको दो।

हे राम! जब इस प्रकार राजा ने कहा, तब अग्नि ने कहा कि ऐसा ही होगा। यों कहकर अग्नि अन्तर्धान हो गये। जैसे समुद्र से तरंग उठकर फिर लय हो जाती है, वैसे ही अग्नि अन्तर्धान हो गये। जब राजा विपश्चित् वर पाकर चलने को उद्यत हुआ, तब जितने मन्त्री और मित्र थे, वे रोने लगे और बोले, हे राजन्! तुमने यह क्या निश्चय किया है? ईश्वर की माया का अन्त किसी ने नहीं पाया, इससे तुम अपने स्थान को चलो। यह क्या तुमने निश्चय किया है? हे राम! इस प्रकार मन्त्री कहते रहे, परन्तु राजा ने उनको आज्ञा देकर एक-एक दिशा के समुद्र में प्रवेश किया। यों चारों दिशाओं में चारों राजाओं ने गमन किया। तब जो बड़े-बड़े शक्तिशाली मन्त्री थे, वे साथ ही चले। तब राजा मन्त्रशक्ति से समुद्र को नाँघ गया। कहीं पृथ्वी पर चला और कहीं ऊँचे चला। इसी प्रकार और द्वीप में जा निकला। तब बड़ा समुद्र आया। उसमें प्रवेश कर गया। उसमें बड़े तरंग उछलते थे और उसका सौ योजन विस्तार था। कभी नीचे और कभी ऊपर को जाते थे। हे राम! ऐसे तरंग उछलते, मानो पर्वत उछ-लते हों। जब वे ऊपर को उछलते, तब स्वर्ग तक उछलने लगते, और

जब नीचे जाते, तब पातालपर्यन्त चलते जान पड़ते। जैसे पानी में तृण फिरता है, वैसे ही राजा फिरे। इस प्रकार कष्ट से रहित राजा समुद्र और दिशा को नाँघ गया, परन्तु बीच में जो वृत्तान्त हुआ सो सुनो। क्षीरसमुद्र में एक मच्छ रहता था, जिसको सब देवता प्रणाम करते थे और जो विष्णु भगवान् के मच्छ अवतार के परिवार में था। जब राजा ने क्षीरसमुद्र में प्रवेश किया, तब राजा को उसने मुख में डाल लिया। पर राजा मन्त्र के बल से उसके मुख से निकल गया। आगे फिर एक मच्छ मिला, उसने भी उसे मुख में डाल लिया। पर उससे भी वह निकल गया।

फिर आगे पिशाचों का देश था। वहाँ राजा को पिशाच ने काम से मोहित किया। फिर उसने दक्षप्रजापति की कुछ अवज्ञा की, जिससे उन्होंने शाप दिया और राजा वृक्ष हो गया। निदान कुछ काल वृक्ष रहकर फिर छूटा तो एक देश में मेंढक हुआ और सौ वर्ष तक खाई में पड़ा रहा। फिर उससे छूटकर मनुष्य हुआ। तब किसी सिद्ध के शाप से शिला हो गया और सौ वर्ष तक शिला ही रहा। उसके उपरान्त अग्नि देवता ने शिला की योनि से छुड़ाया तो फिर मनुष्य हुआ। तब उस सिद्ध को आश्चर्य हुआ कि मेरे शाप को दूर करके यह मनुष्य क्योंकर हुआ—यह तो मुझसे भी बड़ा सिद्ध है। ऐसे जानकर उसने उसके साथ मैत्री की। इसी प्रकार दूसरे समुद्रों को भी यह नाँघता गया। क्षीरसमुद्र, खारी समुद्र और इक्षु रस के समुद्र को नाँघकर द्वीपों को नाँघता गया। फिर एक अप्सरा पर मोहित हुआ और बहुत काल में वहाँ से छूटा। फिर एक देश में पक्षी हुआ। बहुत काल तक पक्षी रहकर छूटा तो एक गोपी पिशाचिनीने बल बनाकर उसे रक्खा। तब दूसरे विपश्चित् ने बैल विपश्चित् को उपदेश करके जगाया। निदान हे राम! चारों दिशाओं में चारों विपश्चित् घूमते फिरे। दक्षिण दिशा का राजा तो पिशाचिनी से मोहित हुआ, इससे उसने बहुत जन्म पाये, और पूर्व का राजा बहता हुआ मच्छ के मुख में चला गया। उसने निकाल दिया, इससे उसने वह अवस्था देखी। उत्तर दिशा का

जो राजा हुआ, उसने वही अवस्था देखी। पश्चिम दिशा का हेमचू पक्षी की पीठ पर पहुँचा। उसने उसे कुशद्वीप में डाल दिया, इससे उसने भी अनेक अवस्था पाईं। हे राम ! एक-एक विपश्चित् ने भिन्न-भिन्न योनियों और अवस्थाओं का अनुभव किया।

राम ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि विपश्चित् एक ही था और उन चारों की संवित् भी एक ही थी, आकार भी एक ही था तो भिन्न-भिन्न रुचि कैसे हुई, जो एक पक्षी हुआ, दूसरा वृक्ष हुआ और वे वासना के अनुसार अनेक शरीर पाते फिरे। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसमें क्या आश्चर्य है ? उनकी संवित् एक ही थी, परन्तु भ्रम से भिन्नता हो जाती है। जैसे किसी पुरुष को स्वप्न होता है तो उसमें वह पशु-पक्षी हो जाता है और भिन्न-भिन्न रुचि भी हो जाती है, वैसे ही उसकी भी भिन्न-भिन्न रुचि हो गई। जैसे देखो कि शरीर तो एक ही होता है, पर उसमें नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा और त्वचा की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, सो एक ही शरीर में अनेकता भासित होती है, वैसे ही उनकी एक ही संवित् थी, परन्तु संकल्प भिन्न-भिन्न हो गया था, इससे मन के फुरने से एक देह में अनेक भासित हुईं। जैसे एक ही योगेश्वर इच्छा करके और और शरीर धर लेता है और एक से अनेक हो जाता है। एक सहस्र-बाहु अर्जुन था। वह किसी भुजा से युद्ध करता था, किसी भुजा से दान करता था और किसी एक से लेता-देता था। इसी प्रकार सब भुजाओं से चेष्टा करता था—वे भी भिन्न-भिन्न हुए। एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न चेष्टा होती हैं। जैसे विष्णु भगवान् कहीं दैत्यों के साथ युद्ध और कहीं कर्म करते हैं, कहीं लीला करते हैं और कहीं शयन करते हैं, सो संवित् तो एकही है, परन्तु चेष्टा भिन्न-भिन्न होती हैं, वैसे ही उनकी संवित् में अनेक रुचि हुई तो इसमें क्या आश्चर्य है ? हे राम ! इस प्रकार उन्होंने जन्म से जन्मान्तर को अविद्याकृत संसार में देखा।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वे तो बोधवान् विपश्चित् थे और बोधवान् जन्म नहीं पाता, फिर उनका किस प्रकार जन्म हुआ ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वे विपश्चित् बोधवान् न थे, परन्तु बोध के निकट धारणा अभ्यासवाले थे। जो वे ज्ञानवान् होते तो दृश्यभ्रम देखने की इच्छा क्यों करते ? इससे वे ज्ञानवान् न थे—धारणा के अभ्यासी थे, अतः समुद्र को नाँघ गये और मच्छ के उदर से बलपूर्वक निकल आये। यह प्रसिद्ध योगशक्ति है। ज्ञान का लक्षण स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। राजा विपश्चित् ज्ञानवान् न थे, इस कारण देश-देशान्तर में घूमते रहे और ज्ञान विना अविद्याकृत संसार में जन्ममरण में फटकते रहे। राम ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञानवान् योगेश्वरों को भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालों का ज्ञान कैसे होता है ? ज्ञानी योगी एक देश में स्थित हुआ सर्वत्र कर्मों को कैसे करता है, यह मुझसे कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अज्ञानी की बात यह मैंने तुमसे कही है। जितना जगत् है, सब चिदाकाशस्वरूप है। जिनको ऐसी सत्ता का ज्ञान हुआ है, वे महापुरुष हैं। जैसे स्वप्न से कोई पुरुष जागे तो स्वप्न की सब सृष्टि उसे अपना ही स्वरूप लगती है और उसमें वह नहीं बँधता। हे राम ! यह सब नानात्व भासता है, सो नाना नहीं और अनाना भी नहीं, केवल आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, वैसे ही आत्मा अपने आपमें स्थित है। ये तीनों काल भी ज्ञानवान् को ब्रह्मरूप हो जाते हैं, सब जगत् भी ब्रह्मरूप हो जाता है और उसका द्वैतभाव मिट जाता है। ऐसे ज्ञानवान् को ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जान सकता। जैसे अमृत को जो पीता है, वही उसके स्वाद को जानता है, और कोई जान नहीं सकता। हे राम ! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तो तुल्य दिखती है, परन्तु ज्ञानी का निश्चय कुछ और है और अज्ञानी का निश्चय और। जिसका हृदय शान्त हुआ है, वह ज्ञानवान् है और जिसका हृदय त्रिताप से जलता है, वह अज्ञानी है। वह बँधा हुआ है। ज्ञानवान् का शरीर चूर्ण हो अथवा उसे राज्य प्राप्त हो तो भी उसको रागद्वेष नहीं उपजता। वह सदा ज्यों का त्यों एकरस रहता है। वह जीवन्मुक्त है, परन्तु उसका यह लक्षण कोई नहीं जान सकता, वह

आप ही जानता है। शरीर को दुःख और सुख भी प्राप्त होता है; वह मरता और रुदन भी करता है, हँसता, लेता और देता भी है और इस प्रकार की सब चेष्टा करता दिखता है, पर वह अपने निश्चय में न दुखी होता है, न सुखी होता है, न देता है और न लेता है, सदा ज्यों का त्यों रहता है।

हे राम! व्यवहार तो उसका भी अज्ञानी की नाईं ही दिखता है, परन्तु हृदय से उसका यही निश्चय होता है। वह अद्भुत पद में स्थित रहता है, कभी उससे नहीं गिरता। उसका परम उदितरूप होता है। वह रागसहित भी दिखता है। पर हृदय से राग किसी में नहीं करता। क्रोध करता भी दिखता है, पर उसको क्रोध कभी नहीं होता। जैसे आकाश शुभ पदार्थ को धारण करता है और धुएँ और बादल से ढका भी दिखता है, पर किसी का स्पर्श नहीं करता; वैसे ही ज्ञानवानों में सब क्रिया दिखती हैं, पर अपने निश्चय में उसे कोई स्पर्श नहीं करती। जैसे नट स्वाँग ले आता है और चेष्टा करता दीखता है, पर हृदय से अपने नटत्व भाव में उसे निश्चय होता है, वैसे ही ज्ञानवान् को भी सब क्रियाओं में अपने आत्मभाव का निश्चय होता है। जैसे जिसको स्वप्न आता है, वह यदि स्वप्न में भी अपना पूर्वरूप स्मरण रखता है तो स्वप्न के पदार्थ में बर्तता है, तो भी स्वप्न के सुख में अपने को सुखी और दुख में दुखी नहीं मानता—सब सृष्टि उसको अपना ही स्वरूप भासित होती है, वैसे ही ज्ञानवान् को स्वरूप के निश्चय से सुख-दुःख का क्षोभ नहीं होता। जो ऐसे पुरुष हैं, उनको दुःख से क्या कष्ट होता है? जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसे ही सिद्धि होकर भासती है। हे राम! यह जितनी सृष्टि है, सब चित्सत्ता में है। योगीश्वर पुरुष उसी में स्थित होकर जहाँ पहुँचना चाहते हैं, वहाँ अन्तवाहक से जा पहुँचते हैं। तीनों काल उनको विद्यमान होते हैं। साधन कुछ नहीं, परन्तु ज्ञानी अवश्य किसी काम के लिए यत्न नहीं करते—जैसा प्राप्त होता है, उसी में प्रसन्न रहते हैं। हे राम! एक समय ब्रह्माजी ऊर्ध्वमुख से सामवेद का गायन करते थे। उन्होंने सदाशिव

का मान न किया, तब सदाशिव ने अपने नख से ब्रह्मा का पाँचवाँ शीश काट डाला। परन्तु ब्रह्माजी के मन में कुछ क्रोध न फुरा। उन्होंने विचारा कि मैं चिदाकाश हूँ, सो अब भी चिदाकाश हूँ, मेरा तो कुछ गया नहीं। सिर से मुझे क्या प्रयोजन है? न कुछ हानि है और न कुछ लाभ।

हे राम! इस प्रकार सब विश्व रचनेवाले ब्रह्माजी का सिर कटा। जो वे फिर सिर लगा लेते तो समर्थ थे, पर उनको सिर लगाने का कुछ प्रयोजन न था और न लगाने में कुछ हानि भी न थी। उनका भी निश्चय सदा आत्मपद में है, इस कारण उन्हें कुछ क्षोभ न हुआ। हे राम! काम के सदृश और कोई विकार नहीं है। जो सदाशिव पार्वती को बायें अङ्ग में धारण करते हैं, उन्होंने ही जिस कामदेव के पाँच बाण चलने से सब विश्व मोहित होता है, उसी काम को भस्म कर डाला। तो क्या स्त्री को वह छोड़ नहीं सकते थे? पर उनको राग-द्वेष कुछ नहीं है, इस कारण त्याग नहीं करते। त्यागने से उन्हें कुछ अर्थ की सिद्धि नहीं होती और रखने से कुछ अनर्थ नहीं होता। जो कुछ प्रवाहपतित कार्य होता है, उसको करते हैं, खेद नहीं मानते, इसी से वे जीवन्मुक्त हैं। विष्णुजी सदा विक्षेप में रहते हैं। आप भी कर्म करते हैं और लोगों से भी कराते हैं। शरीर धारण करते हैं और त्याग भी देते हैं। इत्यादि क्षोभ में वह रहते हैं। वह इसे त्यागने को समर्थ भी हैं, परन्तु त्यागने में उनका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और करने में कुछ हानि नहीं होती। उनको लोग कई गुणों से युक्त सगुण जानते हैं, मुझको तो उनका शुद्ध चिदाकाशरूप भासित होता है। मूर्ख कहते हैं कि विष्णु श्यामसुन्दर हैं, परन्तु वे शुद्ध चिदाकाशरूप हैं और उनको सदा शुद्धस्वरूप में अहंप्रत्यय है।

आकाशमार्ग में जो सूर्य स्थित हैं, वे कभी ऊपर और कभी नीचे जाते हैं। तो क्या उनमें स्थिर होने की सामर्थ्य नहीं है? है, परन्तु चलना और ठहरना, दोनों उनके लिए समान हैं। वह खेद से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य करते हैं, इससे जीवन्मुक्त हैं। जीवन्मुक्त चन्द्रमा

भी हैं, वह घटते-घटते सूक्ष्म होते दिखते हैं और कभी बढ़ते जाते हैं। शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्ष उनसे होते हैं। वह केवल रात्रि को प्रकाश करते हैं। तो क्या वे अपनी क्रिया को त्याग नहीं सकते? त्याग सकते हैं; परन्तु क्षोभ से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य में बिचरते हैं, इससे जीवन्मुक्त हैं। अग्नि सदा दौड़ता रहता है और यज्ञ और होम की आहुतियाँ भोजन करने को सब ओर जाता है। तो क्या उसको गृह में बैठने की सामर्थ्य नहीं है? अवश्य है, परन्तु जो कुछ अपना आचार है, उसको वह नहीं त्यागता, क्योंकि ठहरने में उसका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और चलने में कुछ हानि नहीं होती–दोनों में वह तुल्यरूप से जीवन्मुक्त है। हे राम! बृहस्पति और शुक्र को बड़ा क्षोभ रहता है। बृहस्पति देवताओं की जय के लिए यत्न करते हैं और शुक्र दैत्यों की जय के लिए यत्न करते रहते हैं। तो क्या इनको त्यागने की सामर्थ्य नहीं है? परन्तु दोनों इनको तुल्य हैं, इस कारण खेद से रहित होकर अपने कार्य में लगे रहते हैं, इससे जीवन्मुक्त पुरुष हैं। हे राम! राज्य में बड़े क्षोभ होते हैं, पर राजा जनक आनन्दसहित राज्य करते हैं और जीवन्मुक्त हैं। प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर और मुर आदि दैत्य जीवन्मुक्त हुए हैं। वे समताभाव को लिये, खेद से रहित नाना प्रकार की चेष्टा करते और हृदय से शांत और जीवन्मुक्त रहे हैं। राजा नल, दिलीप और मान्धाता आदि ने भी समताभाव से राज्य किया है। वे भी जीवन्मुक्त हैं। ऐसे ही अनेक राजा हुए हैं। उनमें रागवान् भी देखे गये हैं, परन्तु हृदय में वे रागद्वेष से रहित शान्त चित्त थे।

हे राम! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य होती है, परन्तु भेद इतना ही है कि ज्ञानी का चित्त शान्त और अज्ञानी का चित्त क्षोभ में होता है। अज्ञानी इष्ट की प्राप्ति में हर्षवान् होता है और अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष करता है, और ग्रहण-त्याग की इच्छा से जलता है, क्योंकि उसको संसार सत्य भासित होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसके भीतर न राग है, न द्वेष। स्वाभाविक शरीर की जो प्रारब्ध होती है, उसमें उसे कुछ भी अपना अभिमान नहीं होता। उसके निश्चय में

सब आकाशरूप है। जगत् कुछ बना नहीं–भ्रममात्र है। जैसे आकाश में नीलिमा भ्रममात्र है, और दूर नहीं होती, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है, परन्तु है नहीं। जैसे आकाश में नाना प्रकार के तरुवर दिखें, वैसे ही आत्मा में जगत् भासित होता है। जैसे काठ की पुतली काठरूप होती है, वैसे ही यह जगत् भ्रमरूप है। जो कुछ भ्रम से भिन्न भासता है, वह सब भविष्यन्नगर में असत्य है और जो कुछ तुम्हें देख पड़ता है, वह कुछ नहीं, केवल सब कलना से रहित, शुद्ध-संवित्, जड़ता विना, मुक्तस्वभाव, एक, अद्वैत आत्मसत्ता स्थित है। वह केवल आकाशरूप है। उसमें जगत् भी वही रूप है। वह पाषाण की शिला सदृश ठोस और मौन है। तुम भी उसी रूप में स्थित हो जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनन्नाम द्विशताधिकैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ २१९ ॥

राम ने पूछा, हे भगवन्! उस राजा विपश्चित् ने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जो उनकी दशा हुई, सो सुनो। पश्चिम दिशा का विपश्चित् वन में बिचरता फिरता था कि एक मत्त हाथी के आगे जा पड़ा और उसने उसे पहाड़ की कन्दरा में मार डाला। दूसरे विपश्चित् को राक्षस ले गया और वड़वाग्नि में डाल दिया। वहाँ अग्नि ने उसे भक्षण कर लिया। तीसरे विपश्चित् को एक विद्याधर स्वर्ग में ले गया। उसने वहाँ इन्द्र का मान न किया, इसलिए उसको इन्द्र ने शाप दिया और यह भस्म हो गया। इसी प्रकार चौथा भी मरा। उसके एक मच्छ ने आठ टुकड़े कर डाले। जसे प्रलयकाल में लोक भस्म हो जाते हैं, वैसे ही चारों विपश्चित् मर गये। तब उनकी संवित् आकाशरूप हुई, परन्तु उनको जगत् देखने का संस्कार था, इससे उनकी आकाशरूप संवित् फिर जगी, उससे जाग्रत् भासित होने लगा। उसने पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, स्थावर, जङ्गमरूप जगत् को देखा और अन्तवाहक शरीर से वे चेष्टा करने लगे। उनमें से एक पश्चिम दिशा का विपश्चित् विष्णु भगवान् के स्थान में मरकर निर्वाण हो

गया इससे उसकी संवित् में सब अर्थ शून्य हो गये और वह वहाँ मुक्त हुआ। एक मच्छ के उदर में सहस्र वर्ष पर्यन्त रहा। फिर एक देश का राजा हुआ और वहाँ राज्य करने लगा। एक चन्द्रमा के निकट गया, वहाँ मरकर चन्द्रमा के लोक को पहुँचा। और एक बहता हुआ समुद्र के पार हुआ और आगे चौरासी हजार योजन पृथ्वी को नाँघता गया। इसी प्रकार चारों फिर जिये और समुद्र, वन और पर्वतों को नाँघते गये।

सबको आगे दशसहस्र योजन सुवर्ण की पृथ्वी मिली, जहाँ देवताओं के बिचरने के स्थान हैं। उसको भी वे नाँघते गये। आगे लोकालोक पर्वत आया, जिसने सब पृथ्वी को घेर लिया है। जसे वृक्षों से वन का आवरण होता है, वसे ही उस पर्वत ने पचास कोटि योजन पृथ्वी का आवरण किया है। वह पचास हजार योजन ऊँचा है—वे उस लोकालोक पर्वत में पहुँचे, जहाँ तारों का नक्षत्रचक्र घूमता है। उसको भी वे नाँघ गये। उसमें आगे एक शून्य नक्षत्र था। वह महाशून्य था। वहाँ पृथ्वी, जल आदि कोई तत्त्व न था। एक शून्य आकाश है, जहाँ न कोई स्थावर पदार्थ है, न कोई जङ्गम पदार्थ है, न कोई उपजता है, न कभी मिटता है। उसको भी उन्होंने देखा। इसी प्रकार सम्पूर्ण भूगोल उन्होंने देखा। राम ने पूछा, हे भगवन्! भूगोल क्या है। किसके आश्रय में है? उसके ऊपर क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे गेंद होता है, वैसे भूगोल है और वह संकल्प के आश्रय में है। उसके सब ओर आकाश है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सहित यह चक्र फिरता है। हे राम! यह कोई वस्तु बुद्धि से नहीं बनी, संकल्प से बनी है। जो वस्तु बुद्धि से बनी होती है, वह क्रम से स्थित होती है, पर यह तो विपर्ययरूप से स्थित है। पृथ्वी के चहुँफेर दसगुना जल है। उसके बाद दसगुनी अग्नि है। उसके उपरान्त दसगुना वायु है और फिर ब्रह्माण्ड खप्पर है।

वह खप्पर एक नीचे और एक ऊपर को गया है। उसके मध्य में जो पोल है, वह आकाश है, जो वज्रसार की नाईं है। उसका विस्तार

अनन्तकोटि योजन है। उस ब्रह्माण्ड का उसमें भूगोल है। उसके उत्तर में सुमेरु पर्वत, पश्चिम में लोकालोक पर्वत है, और ऊपर नक्षत्रचक्र घूमता है। जहाँ वह जाता है, वहाँ प्रकाश होता है, और जहाँ वह नहीं होता, वहाँ तमरूप भासित होता है सो सब संकल्प की रचना है। जैसे बालक संकल्प से पत्थर का बट्टा रचे, वैसे ही चैतन्यरूपी बालक ने यह संकल्परूपी भूगोल रचा है। हे राम! जैसे-जैसे उस समय उसमें निश्चय हुआ है, वैसे ही वैसे वह स्थित हुआ है। जहाँ पृथ्वी रची है, वहीं वह स्थित है। जहाँ खात रचा है, वहाँ खात ही है। परन्तु जैसे स्वप्न में अविद्यमान प्रतिभा होती है वैसे ही भूगोल है। हे राम! जिनको ऐसा ज्ञान है कि सुमेरु में देवता और पूर्वादि दिशाओं में मनुष्य आदि जीव रहते हैं, वे पण्डित होने पर भी मूर्ख हैं; क्योंकि ये देवता आदि तो भ्रममात्र हैं, कुछ बने नहीं। जो मुझ सरीखे तत्त्ववेत्ता हैं, उनको ज्ञाननेत्र से आत्मसत्ता ज्यों की त्यों दिखती है, और जो अज्ञानी मन सहित षट् इन्द्रियों से देखते हैं, उनको जगत् दिखता है ज्ञानवानों को परब्रह्म सूक्ष्म ज्यों का त्यों भासता है। वे जगत् को असत् जानते हैं। जैसे आकाश में अनहोती नीलिमा दिखती है; वैसे ही आत्मा में अनहोता जगत् दिखता है। जैसे नेत्र दोष से आकाश में तरुवर दिखते हैं, वैसे ही अज्ञान से आत्मा में जगत् भासित होता है। सो वह केवल आभासमात्र है।

हे राम! जगत् उपजा भी दिखता है और नष्ट होता भी दिखता है, परन्तु बना कुछ नहीं। जैसे संकल्प का रचा नगर अपने मन में भासित होता है, वैसे ही यह जगत् मन में फुरता है। यह सम्पूर्ण भूगोल संकल्प में स्थित है। जैसे बालक संकल्प करके पत्थर का बट्टा रचे, वैसे ही भूगोल है। यह ब्रह्माण्ड सौकोटि योजन पर्यन्त विस्तृत है। उसका एक भाग नीचे गया है और एक ऊपर को। उसमें चतन्य-रूपी बालक ने यह भूगोल रचा है, सो संकल्प के आश्रय से खड़ा है। जैसे आदि नीति हुई है, वैसे ही भासता है। इस पृथ्वी के उत्तर में सुमेरु पर्वत है, पश्चिम ओर लोकालोक पर्वत है और ऊपर तारों और

नक्षत्रों का चक्र घूमता है। लोकालोक के जिस ओर वह आता है, उस ओर प्रकाश होता है। भूगोल ऐसे है, जैसे गेंद होता है। उसके एक ओर पाताल, एक ओर स्वर्ग है और एक ओर मध्यमण्डल है। आकाश सब ओर है। पातालवासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं, आकाश-वासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं और मध्यवासी जानते हैं कि हम ऊपर हैं। इस प्रकार भूगोल है। उसके ऊपर महातमरूप एक शून्य खात है। वहाँ न पृथ्वी है, न कोई पहाड़ है, न स्थावर है, न जङ्गम है और न कुछ उपजा है। उसके ऊपर एक सुवर्ण की दीवार है, जिसका विस्तार दस सहस्र योजन है। उसके ऊपर दसगुना जल है। वह पृथ्वी को चहुँफेर से घेरे है। उससे परे दसगुना अग्नि है। फिर दसगुना वायु है। उसके आगे आकाश है। फिर ब्रह्माकाश महाकाश है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। परन्तु ये तत्त्व जैसे तृण के आश्रय से कपूर ठहरता है, वैसे ही पृथ्वीभाग के आश्रय से ठहरे हैं। वास्तव में यह शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का चमत्कार है, जो आकाशवत् निर्मल है। उसमें कोई क्षोभ नहीं है। वह परमशान्त, अनन्त और सबका अपना रूप है।

हे राम! अब फिर विपश्चित् का वृत्तांत सुनो। जब वे लोकालोक पर्वत पर पहुँचे, तब एक शून्य खात (खाई) उनको देख पड़ा। वह पर्वत से उतरकर खात में जा पड़े। वह खात भी पर्वत के शिखर पर था। वहाँ शिखर की नाईं बड़े-बड़े पक्षी भी रहते थे, इस कारण उन पक्षियों ने चोंचों से इनके शरीर चूर्ण किये। तब उन्होंने अपने स्थूल शरीर को त्यागकर अपना सूक्ष्म अन्तवाहक शरीर जाना। राम ने पूछा, हे भगवन्! आधिभौतिकता कैसे होती है और अन्तवाहक क्या है? फिर उन्होंने क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे कोई संकल्प से दूर से दूर चला जाय तो जिस शरीर से जाय वह अन्तवाहक है; और जो पाञ्चभौतिक शरीर प्रत्यक्ष दिखता है, वह आधिभौतिक है। जब मार्ग से कहीं जाने को चित्त में संकल्प उठता है, तब स्थूल शरीर गये विना नहीं पहुँच सकता और जब मार्ग में

चले तब पहुँचता है, वही आधिभौतिक है और यह प्रमाद से होता है। जसे रस्सी को भूलने से सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से आधिभौतिक शरीर भासित होता है, और जैसे कोई मनोराज्य का पुर बनाकर उसमें आप भी एक शरीर बनकर चेष्टा करता फिरे तो उसे जब तक पूर्व का शरीर नहीं भूलता, तब तक वह संकल्प शरीर से चष्टा करता है। वही अन्तवाहक है। उस शरीर को संकल्पमात्र जानना 'विशेष बुद्धि' कहलाता है, आत्मबोध हुए विना जो उस संकल्पशरीर में दृढ़ भावना होती है, तो उसका नाम आधिभौतिक होता है—वह घट-बढ़ कहाता है। इससे जबतक शरीर का स्मरण है, तब तक आधिभौतिकता नहीं निवृत्त होती। और जब शरीर का विस्मरण होता है, तब आधिभौतिकता मिट जाती है। विपश्चित् आत्मबोध से रहित थे और जहाँ चाहते थे वहाँ चले जाते थे, पर स्वरूप से न कुछ अन्तवाहक है और न कुछ आधिभौतिक है। प्रमाद से ये सब आकार भासित होते हैं। वास्तव में सब चिदाकाशरूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी, सब वही है, और उसी के प्रमाद से विपश्चित् अविद्याकृत जगत् को देखने चले थे। वह अविद्या भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं—ब्रह्म ही है, तब ब्रह्म का अन्त कहाँ आवे? वहाँ से वे चले, परन्तु जानते थे कि हमारा अन्तवाहक शरीर है।

निदान वे सब पृथ्वी को नाँघ गये। फिर जल को भी नाँघ गये। उसके बाद जो सूर्य सा दाहक अग्नि का आवरण प्रकाशमान है, उसको भी नाँघकर मेघ और वायु के आवरण को भी नाँघ गए। फिर आकाश को भी नाँघ गये। उसके बाद ब्रह्माकाश था, जहाँ उनको संकल्प के अनुसार फिर जगत् भासित होने लगा, पर उसको भी वे नाँघ गये। फिर आगे ब्रह्माकाश मिला, फिर उनको पञ्चभूत भासित हुए। उनके आवरण को भी वे नाँघ गये। फिर उस ब्रह्माण्डकपाट के बाद तत्त्वों को नाँघकर ब्रह्माकाश मिला। उसमें एक और पाञ्चभौतिक ब्रह्माण्ड था। उसको भी नाँघ गये, पर अन्त न पाया। स्वरूप के प्रमाद से दृश्य का अन्त जानने को वे भटकते फिरे, पर अविद्यारूप संसार का अन्त कैसे

आवे ? यह जीव तब तक अन्त लेने को भटकता फिरता है, जब तक अविद्या नहीं नष्ट होती; जब अविद्या नष्ट होगी, तभी अविद्यारूप संसार का अन्त होगा। हे राम ! जगत् कुछ बना नहीं, वही ब्रह्माकाश ज्यों का त्यों स्थित है। उसका न जानना ही संसार है। जब तक उसका प्रमाद है, तब तक जगत् का अन्त न आवेगा। जब स्वरूप का ज्ञान होगा, तब अन्त आवेगा। सो वह जानना क्या है ? चित्त का निर्वाण करना ही जानना है। जब चित्त का निर्वाण होगा, तब जगत् का अन्त आवेगा। जब तक चित्त भटकता फिरता है, तब तक संसार का अन्त नहीं आता। इससे चित्त का नाम ही संसार है। जब चित्त आत्मपद में स्थित होगा, तब जगत् का अन्त होगा। इस उपाय के विना शान्ति नहीं प्राप्त होती।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिदुपाख्यानवर्णनं नाम द्विशताधिकविंशतिस्सर्गः ॥ २२० ॥

राम ने पूछा, हे भगवन् ! वे जो दो विपश्चित् थे, उनकी क्या दशा हुई, यह भी कहो। वे तो दोनों एक ही थे। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! एक का तो निर्वाण हुआ था, दूसरा ब्रह्माण्डों को नाँघता-नाँघता और एक ब्रह्माण्ड में गया। वहाँ उसको सन्तों का संग प्राप्त हुआ। उनकी संगति से उसको ज्ञान हुआ। ज्ञान को पाकर वह भी निर्वाण हो गया। बाकी एक अब तक दूर फिरता है और एक यहाँ पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर बिचरता है। हे राम ! यह जगत् आत्मा का आभास है। जैसे सूर्य की किरणों में जल दिखता है और जब तक किरणें हैं, तब तक जलाभास निवृत्त नहीं होता, वैसे ही जबतक आत्मसत्ता है, तब तक जगत् का चमत्कार निवृत्त नहीं होता और आत्मा के जानने से जगत्सत्ता नहीं रहती। जैसे किरणों के अदृश्य होने से जलाभास नहीं रहता और जो जल दिखता है तो भी किरणों ही की सत्ता भासित होती है, वैसे ही आत्मा के जाने से आत्मा की सत्ता ही भासती है—भिन्न जगत् की सत्ता नहीं भासित होती। राम ने पूछा, हे भगवन् ! विपश्चित् एक ही था तो एक ही संवित् में भिन्न-भिन्न

वासना कैसे हुई ? एक मुक्त हो गया, एक मृग होकर फिरता रहा और एक आगे निर्वाण हो गया—यह भिन्नता कैसे हुई ? संवित् तो एक ही थी, उसमें कम और अधिक फल कैसे प्राप्त हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! वासना देश, काल और पदार्थों से होती है। उसमें जिसकी दृढ़ भावना होती है, उसकी जय होती है। जैसे एक पुरुष ने मनोराज्य से अपनी चार मूर्त्तियाँ कल्पित कीं और उनमें भिन्न-भिन्न वासना स्थापित की, पर संवित् तो एक है, यदि पहले का शरीर भूलकर उसमें दृढ़ हो गये तो जैसी-जैसी भावना उनके शरीर में दृढ़ होती है, वही प्राप्त होती है, वसे ही संवित् में नाना प्रकार की वासनाएँ फुरती हैं। जैसे एक ही संवित स्वप्न में नाना प्रकार रखती है और वासना भिन्न-भिन्न होती है, वैसे ही आकाशरूप संवित् में भिन्न-भिन्न वासना होती है।

हे राम ! उनकी संवित् एक थी, परन्तु देश, काल और क्रिया से वासना भिन्न-भिन्न हो गई और पूर्व की संवित् स्मृति भूल गई, उससे उन्होंने न्यून और अधिक फल पाये। उस संवित् का क्या रूप है ? हे राम ! देश से देशान्तर को जो संवेदन जाता है, उसके बीच जो संवित्-सत्ता है, वह ब्रह्मसत्ता है। जाग्रत् के आकार को छोड़ने और स्वप्न न आने के मध्य जो ब्रह्मसत्ता है, वह किञ्चनरूप जगत् होकर भासित होती है, परन्तु किञ्चन भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह एक है, न दो है; एक कहना भी नहीं होता तो दो कहाँ हो और जगत् कहाँ हो ? यही अविद्या है कि न होने पर भी भासती है। जैसी-जैसी वासना फुरती है, उसमें जो दृढ़ होती है, उसकी जय होती है। इस कारण एक विपश्चित् जनार्दन (विष्णु) के स्थान में निर्वाण को प्राप्त हो गया और दूसरा दूर से दूर ब्रह्माण्ड को नाँघता गया। उसे सन्तों का संग प्राप्त हुआ, जिससे ज्ञान उदय होकर वासना मिट गई और उसका अज्ञान नष्ट हो गया। जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही जब उसका अज्ञान नष्ट हो गया, तब वह उस पद को प्राप्त हुआ जिसके अज्ञान से जीव दूर से दूर भटकता है। तीसरा दूर से दूर भटकता फिरता है और चौथा पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर

बिचरता है। हे राम! जगत् कुछ वस्तु नहीं, अज्ञान वश जीव भटकता है, इसलिए अज्ञान ही जगत् है। जब तक अज्ञान है तब तक जगत् है। जब ज्ञान उदय होता है, तब वह अज्ञान का नाश करता है और तभी जगत् का अभाव हो जाता है। राम ने पूछा, हे भगवन्! यह जो मृग हुआ, वह कहाँ-कहाँ फिरा और कहाँ-कहाँ स्थित हुआ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम! दो ब्रह्माण्ड को नाँघते दूर से दूर चले गये थे। उनमें से एक अब तक चला जाता है और पृथ्वी, समुद्र, वायु, आकाश उसकी संवित् में फुरते हैं। यह तो दूर से दूर चला गया है और हमारी आधिभौतिक दृष्टि का विषय नहीं है। दूसरा ब्रह्माण्ड को नाँघता गया था, पर अब इस जगत् में पहाड़ की कन्दरा का मृग हुआ है। वह हमारी इस दृष्टि का विषय है। राम ने पूछा, हे भगवन्! ये तो दूर गये थे और उनमें से एक इस जगत् में अब मृग हुआ है, तो तुमने यह कैसे जाना कि आगे वह ब्रह्माण्ड में था और अब इस जगत् में है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! मैं ब्रह्म हूँ और सब ब्रह्माण्ड मेरे अङ्ग हैं। मुझको सबका ज्ञान है। जैसे अवयवी पुरुष अपने अंगों को जानता है कि यह अङ्ग फुरता है और यह नहीं फुरता, वैसे ही मैं सबको जानता हूँ। जिसे-जिसे यह नाँघता गया है, उसे बुद्धि के नेत्रों से मैं जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जान सकते। जैसे समुद्र में अनेक तरङ्ग उठते हैं और समुद्र सबको जानता है, वैसे ही मैं समुद्ररूप हूँ और मुझ में ब्रह्माण्डरूपी तरङ्गें उठी हैं, इससे मैं सबको जानता हूँ। हे राम! वह जो मृग दूर ब्रह्माण्ड में फिरता है। वह विपश्चित् यह सामान्य मृग नहीं है, परन्तु जैसा है, सो सुनो। हे राम! एक ब्रह्माण्ड इस हमारे ब्रह्माण्ड सा है, जिसका ऐसा ही आकार है, ऐसीही चेष्टा है, एक ही सा जगत् है और स्थावर-जङ्गम सब एक ही से हैं। वहाँ जो देश, काल और क्रिया होता है, वह इसी के समान होती है। जैसे नाम, रूप और आकार यहाँ होते हैं, जैसे बिम्ब का प्रतिबिम्ब तुल्य ही होता है। और जैसे एक ही आकार का एक प्रतिबिम्ब जल में और दूसरा दर्पण में पड़ता है वे दोनों तुल्य हैं, वैसे ही दोनों ब्रह्माण्ड एक समान हैं और

ब्रह्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस कारण यह मृग विपश्चित् है, इसी निश्चय को धारण किये हुए है। यह और वह जो पहाड़ की कन्दरा में है दोनों तुल्य हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! वह विपश्चित् अब कहाँ है और उसका क्या आचरण है ? अब मैं जानता हूँ कि उसका कार्य हुआ है। अब चलकर मुझको दिखाओ और उसको दर्शन देकर अज्ञान पाश से मुक्त करो।

इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले, हे अङ्ग ! जब रामजी ने इस प्रकार कहा, तब मुनिशार्दूल वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जहाँ तुम्हारा लीला का स्थान है और तुम क्रीड़ा करते हो उस जगह वह मृग बँधा हुआ है। यह तुमको तिरगदेश के राजा ने दिया है और बहुत सुन्दर है, इस कारण तुमने उसे रक्खा है। उसको मँगाओ। तब रामजी ने अपने सखाओं से, जो निकटवर्ती थे, कहा कि उस मृग को सभा में ले आओ। हे राजन् ! जब इस प्रकार रामजी ने कहा, तब वे सभा में उस मृग को ले आये, और जितने श्रोता सभा में बैठे थे वे बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुए। वह मृग बड़ी गर्दन से बड़ा सुन्दर और कमल दल से विशाल नेत्रवाला था। कभी वह घास खाने लगता, कभी सभा में खेलता और कभी ठहर जाता। तब रामजी ने कहा, हे भगवन् ! आप इसको कृपा करके मनुष्य बना दीजिये और उपदेश करके जगाइये, जिसमें हमारे साथ प्रश्न-उत्तर करे। अभी तो यह प्रश्न-उत्तर नहीं करता। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस प्रकार इसको उपदेश न लगेगा, क्योंकि जिसका कोई इष्ट होता है, उसी से उसको सिद्धि होती है। इससे मैं इसके इष्ट को ध्यान करके बुलाता हूँ—उससे इसका कार्य सिद्ध होगा। बाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! इस प्रकार कहकर वशिष्ठजी ने कमण्डलु हाथ में लेकर तीन बार आचमन किया और पद्मासन बाँध, नेत्र मूँद, ध्यान में स्थित होकर अग्नि का आवाहन किया। हे अग्नि देव ! यह तुम्हारा भक्त है, इसकी सहायता और इस पर दया करो। तुम सन्तों का दयालु स्वभाव है। जब वशिष्ठजी ने ऐसे कहा, तब सभा में बड़े तेजस्वी अग्नि की ज्वाला काष्ठ—अङ्गार से रहित प्रकट हुई और जलने लगी। जब ऐसे

अग्नि जगी, तब वह मृग उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके चित्त में बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई।

तब वशिष्ठजी ने नेत्र खोलकर अनुग्रह सहित मृग की ओर देखा। उससे उसके सम्पूर्ण पाप भस्म हो गये। वशिष्ठजी ने अग्नि से कहा, हे भगवन्, यह तुम्हारा भक्त है। अपनी पहले की भक्ति स्मरण करके इस पर दया करो और इसके मृगशरीर को दूर करके इसको विपश्चित् शरीर दो, जिसमें यह अविद्याभ्रम से मुक्त हो। हे राजन्! इस प्रकार अग्नि से कहकर वशिष्ठजी राम से बोले, हे राम! अब यह मृग अग्नि में प्रवेश करेगा, तब इसका मनुष्यशरीर हो जायगा। वशिष्ठजी ऐसे कहते ही थे कि वह मृग अग्नि को देखकर एक चरण पीछे को हटा और उछलकर अग्नि में प्रवेश कर गया। जैसे बाण निशाने में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसने-प्रवेश किया। हे राजन्! उस मृग को कुछ खेद न हुआ, बल्कि उसको अग्नि आनन्दरूप देखपड़ा। तब उसका मृगशरीर अन्तर्धान हो गया। वह महाप्रकाशरूप मनुष्यशरीर धारण-किये अग्नि से निकला। जैसे कपड़े के ओढ़े से स्वाँगिया स्वाँग रखकर निकल आता है, वैसे ही वह निकल आया। वह अति सुन्दर वस्त्र पहने हुए, शीश पर मुकुट, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला और यज्ञोपवीत धारण किये था। अग्नि सा वह तेजस्वी था। सभा में जो लोग बैठे थे, उनसे भी अधिक उसका तेज था--मानो अग्नि को भी लज्जित कर रहा हो। जैसे सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा का प्रकाश फीका हो जाता है, वैसे ही वह सबसे अधिक प्रकाश मान हो गया। फिर जैसे समुद्र से तरङ्ग निकलकर लीन हो जाता है, वैसे ही वह अग्नि अन्तर्धान हो गये। यह देखकर राम को आश्चर्य हुआ और सब सभा विस्मय को प्राप्त हुई।

तब बड़े प्रकाश से युक्त विपश्चित् निकलकर ध्यान में लग गया। विपश्चित् से लेकर इस शरीर तक अपने सब शरीर स्मरण करके नेत्र खोल वशिष्ठजी के निकट आ साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला, हे ब्राह्मण! ज्ञान के सूर्य और प्राण के दाता! तुमको मेरा नमस्कार है।

हे राजन् ! जब इस प्रकार उसने कहा, तब वशिष्ठजी ने उसके शिर पर हाथ रक्खा और कहा, हे राजन् ! तू उठ खड़ा हो। अब मैं तेरी अविद्या दूर करूँगा और तू अपने स्वरूप को प्राप्त होगा। तब राजा विपश्चित् ने उठकर राजा दशरथ को प्रणाम किया और बोला, हे राजन् ! तुम्हारी जय हो। राजा दशरथ ने आसन से उठकर कहा, हे राजन् ! तुम बहुत दूर फिरते रहे हो, अब यहाँ मेरे पास बैठो। विश्वामित्र आदि जो ऋषि बैठे थे, उनको यथायोग्य प्रणाम करके राजा विपश्चित् बैठ गया। राजा दशरथ ने विपश्चित् को, जो बड़े प्रकाश को धरण किये था, भास कहके बुलाया और कहा, हे भास ! तुम संसारभ्रम के लिए चिरकाल फिरते रहे हो; थके होगे, अब विश्राम करो और जो-जो देश-काल-क्रिया की हैं और देखा है, सो कहो। यह आश्चर्य है कि अपने मन्दिर में सोये हो और निद्रादोष से गढ़े में गिरते फिरे और देश-देशान्तर में भटकते फिरे। यही अविद्या है। हे भास ! जैसे वन का बिचरनेवाला हाथी जंजीर से बँधा हुआ दुःख पाता है वैसे ही तुम विपश्चित् भी थे और अविद्या से जगत् के देखने के लिए भटकते रहे। हे राजन् ! जगत् कुछ वस्तु नहीं है, पर भासित होता है, यही माया है। जैसे भ्रम से आकाश में नाना प्रकार के रङ्ग दिखते हैं, वैसे ही अविद्या से ये जगत् भासित होते और सत्य प्रतीत होते हैं, पर सब आकाशरूप हैं और आकाश में स्थित हैं। उस आकाश में जो कुछ तुमने आत्मरूपी चिन्तामणि के चमत्कार से देखा है, वह कहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिच्छरीरप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकैकविंशतितमस्सर्गः ॥ २२१ ॥

दशरथजी बोले, हे भास ! बड़ा आश्चर्य है कि तुम विपश्चित् बुद्धिमान् थे और चेष्टा से तुमने अविपश्चित् (मूर्ख) बुद्धि की है, जो अविद्या के देखने को समर्थ हुए थे। यह जगत्प्रतिभा तो मिथ्या है; असत्य के ग्रहण की इच्छा तुमने क्यों की ? वाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! जब इस प्रकार राजा दशरथ ने कहा, तब प्रसंग पाकर

विश्वामित्र बोले, हे राजन्, दशरथ! यह चेष्टा वही करता है, जिसको परम बोध नहीं होता, पर केवल मूर्ख और अज्ञानी भी नहीं होता, क्योंकि जिसको परमबोध और आत्मा का अनुभव होता है, वह जगत् को अविद्याकृत जानता है और उस अविद्यक जगत् का अन्त जानने को इतना यत्न नहीं करता, क्योंकि वह तो उसे असत्य जानता है। और जो देहाभिमानी मूर्ख अज्ञ है, वह भी यह यत्न नहीं करता, क्योंकि उसको देखने की सामर्थ्य भी नहीं होती। इससे मध्य भावी है। जो आत्मबोध से रहित है और जिसने आधिभौतिक शरीर का त्याग किया है, वही संसार देखने का यत्न करता है। जिनको उत्तम बोध नहीं हुआ, वे इस प्रकार बहुत भटकते फिरते हैं। हे राजन्! इसी प्रकार बटधाना भी इसी ब्रह्माण्ड में फिरते हैं। सत्तर लाख वर्ष उनको इसी ब्रह्माण्ड में फिरते व्यतीत हुए हैं। उन्होंने भी यही निश्चय धारण किया है कि पृथ्वी कहाँ तक चली जाती है। इस निश्चय से वे निवृत्त नहीं होते और इसी ब्रह्माण्ड में घूमते हैं। उनको अपनी वासना के अनुसार विपरीत और ही और स्थान भासित होते हैं।

हे राजन्! जैसे किसी बालक का रचा संकल्प का वृक्ष आकाश में हो, वैसे ही यह भूगोल ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। संकल्प से गेंद के समान आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँचों तत्त्वों का यह ब्रह्माण्ड रचा है। उसके चौफेर चींटियाँ फिरती हैं। जिस ओर से वे जाती हैं, वह ऊर्ध्व दिखता है सो और ही निश्चय होता है। वैसे ही इस संकल्प के रचे भूगोल के किसी कोण में बटधाना जीव हुआ है। हे राजन्! उसके तीन पुत्र थे। उनके मन में यह संकल्प उदय हुआ कि हम जगत का अन्त देखें। इसी संकल्प से फिरते-फिरते वे पृथ्वी नाँघते हैं। पृथ्वी और जल आता है। जल को नाँघते हैं। फिर आकाश आता है। फिर पृथ्वी, जल, वायु फिर उसी भूगोल के चहुँफेर फिरते रहे। जैसे आकाश में गेंद हो, वैसे ही यह पृथ्वी आकाश में है। इसका नीचे ऊपर कोई नहीं। चरण नीचे शिर ऊपर, इसी तरह बट-

धाना जीव उसी के चौफेर घूमते रहे, परन्तु अपने निश्चय से और का और जानते रहे। जब तक स्वरूप का प्रमाद है, तब तक जगत् का अभाव नहीं होता और जब आत्मा का साक्षात्कार होता है, तब जगत् ब्रह्मरूप हो जाता है। जगत् कुछ बना नहीं, फुरने से भासित होता है, जैसे स्वप्न में अज्ञान से अनन्त जगत् दीखते हैं। यह फुरना परब्रह्म में हुआ है, जो फुरने में है, वह भी परब्रह्म है। कुछ बना नहीं—आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे पत्थर की शिला ठोस होती है, वैसे ही आत्मतत्त्व चैतन्यघन है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। सब कल्पना परब्रह्मरूप है और ब्रह्म ही कल्पनारूप है। इस जड़ और चैतन्य में कुछ भेद नहीं। हे राजन्! जिसको जगत् कहते हो, वह ब्रह्मसत्ता ही है। न कुछ उत्पन्न हुआ है और न प्रलय होता है—सब ब्रह्म ही है। जैसे पहाड़ में पत्थर के सिवा कुछ नहीं होता, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मसत्ता के सिवा कुछ नहीं। जैसे पाषाण की पुतली पाषाणरूप ही है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मरूप ही है। एक सूक्ष्म अनुभवअणु से अनेक अणु होते हैं, जैसे एक पहाड़ से अनेक शिलाएँ होती हैं। हे राजन्! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् ब्रह्मरूप भासित होता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार भासित होता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं है, परन्तु जब तक संकल्प है, तब तक जगत् फुरता है। जैसे रत्नों की चमक होती है, वैसे ही जगत् आत्मा का चमत्कार है। चैतन्य आत्मा के आश्रय से अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं, अतः सब सृष्टि आत्मरूप हैं। आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जो जाग्रत् पुरुष ज्ञानवान् हैं, उनको ब्रह्मरूप ही दिखता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार का जगत् दिखता है।

हे राजन्! कुछ लोग इसे शून्य कहते हैं कि अर्थात् यह शून्य ही है, और कुछ नहीं। कुछ इसको जगत् कहते हैं, और कुछ ब्रह्म कहते हैं। जैसा किसी को निश्चय होता है, उसको वही रूप दिखता है। आत्मरूपी चिन्तामणि है, जैसा-जैसा संकल्प उसमें फुरता है, वैसा-वैसा ही भासित होता है। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। जैसा-जैसा उसमें

निश्चय होता है, वैसा ही वैसा होकर भासित होता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटी जो दिखती है, वह भी ब्रह्म होकर भासित होती है, द्वितीय कुछ वस्तु नहीं और जो कुछ दिखता है, वही अज्ञान है। हे राजन्! जब तक वासना नष्ट नहीं होती, तब तक दुःख भी नहीं मिटते, और जब वासना मिट जाती है, तब सब जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप ही भासित हो और रागद्वेष किसी में न रहता। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि दिखती हैं, जब पूर्व का स्वरूप स्मरण होता है तो सब रूप आप ही हो जाता है और रागद्वेष मिट जाता है, वैसे ही ज्ञानवान् को यह जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप भासित होता है और विकार से रहित होता है। पूर्व, अपूर्व और अपर को विचारना कि यह शुभ है और यह अशुभ है और अशुभ का त्याग करना, यह गौण विचार है। जब-तक पूर्वापर विचार मन में रहता है, तब तक जीव जगत् में भटकता है और बँधा रहता है, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों जगत् में हैं। जब इनका विस्मरण हो जाय और सम्पूर्ण जगत् को भ्रममात्र जानकर आत्मपद में सावधान हो, तब जीव मुक्त होता है। इस जीव के बन्धन का कारण अपनी वासना ही है। जब तक जगत् में वासना होती है तब तक राग-द्वेष उपजता है और जीव उससे बँधा रहता है। जिनको जगत् के सुख-दुख में रागद्वेष की भावना नहीं उपजती, और वासना भी नष्ट हो जाती है, उनको यह जगत् ब्रह्मरूप अपनारूप ही दिखता है और जगत् में दुःखदायक कुछ नहीं रहता। उनको सब ब्रह्म ही दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बटधानोपाख्यानवर्णनन्नाम द्विशताधिकद्वाविंशतितमस्सर्गः॥ २२२॥

दशरथजी ने विपश्चित् से पूछा, हे भास! तुम चिरकाल पर्यन्त जगत् में फिरते रहे हो। जिस प्रकार तुमने चेष्टा की है और जो देश, काल, पदार्थ देखे हैं, सो सब कहो। भास बोले, हे राजन्! मैं जगत् को देखता फिरा हूँ और फिरता-फिरता थक गया हूँ, परन्तु देखने की इच्छा होने के कारण मुझको दुःख नहीं हुआ। जो कुछ मैंने चेष्टा की है और जो देखा है, वह कहता हूँ। हे राजन्! मैंने बहुत जन्म पाये हैं,

और बहुत बार मृतक हुआ हूँ। बहुत बार शाप पाया है, ऊँच-नीच जन्म लिये हैं और मर-मर गया हूँ। बहुत ब्रह्माण्ड देखे हैं। परन्तु ये सब अग्नि-देवता के वर से देखे हैं। एक बार मैं वृक्ष हुआ और सहस्र वर्ष पर्यन्त फूल, फल, टास से युक्त रहा। जब कोई काटता, तब मैं दुखी होता और मेरे हृदय में पीड़ा होती। फिर वह शरीर छूटा तो मैं सुमेरु पर्वत पर सुवर्ण का कमल हुआ और वहाँ का जल पिया। फिर एक देश में पक्षी हुआ। सौ वर्ष पक्षी रहकर फिर सियार हुआ। मुझे हाथी ने चूर्ण किया, इससे मृतक होकर फिर सुमेरु पर्वत पर सुन्दर मृग हुआ। देवता और विद्याधर मेरे साथ प्रीति करने लगे। कुछ काल में मरकर फिर देवताओं के वन में मञ्जरी हुआ। वहाँ देवियाँ और विद्याधरियाँ मुझको स्पर्श करतीं और सुगन्ध लेती थीं। तब मैं देवताओं की स्त्री हुआ, फिर सिद्ध हुआ और मेरा वचन सत्य होने लगा। फिर मैंने और शरीर धरा और एक ब्रह्माण्ड नाँघ गया। इसी प्रकार कई ब्रह्माण्ड मैं नाँघ गया। तब एक ब्रह्माण्ड में जो आश्चर्य देखा, सो सुनो। वहाँ मैंने एक स्त्री देखी, जिसके शरीर में कई ब्रह्माण्ड थे। इससे मुझे आश्चर्य हुआ। फिर देश-काल-क्रिया से पूर्ण कई त्रिलोकी देखीं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखता है, वैसे ही मुझको उसमें जगत् दिखे। तब मैंने उससे कहा, हे देवि! तुम कौन हो और यह तुम्हारे शरीर में क्या है? देवी बोली, हे साधो। मैं शुद्ध चित्शक्ति हूँ और ये सब मेरे अङ्ग मेरे में स्थित हैं। मेरी क्या बात पूछनी है—यह सब जगत् जो तू देखता है चिद्रूप है। चैतन्य से भिन्न और कुछ नहीं। सबमें ब्रह्माण्ड (त्रिलोकी) स्थित है, जो अपना रूप ही है। जो अपने स्वभाव में स्थित हैं, उनको अपने ही में ये दिखते हैं और जो स्वरूप में स्थित नहीं हैं, उनको जगत् बाहर और अपने से भिन्न भासित होते हैं।

हे राजन्! यह जगत् कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि और गन्धर्व नगर दिखता है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। जैसे जल में तरङ्ग दिखता है, सो जलरूप है—तरङ्ग कछ भिन्न वस्तु नहीं होते, वैसे ही सब जगत् चिद्रूप में भासित होता है, सो चैतन्य से भिन्न

कुछ नहीं। परन्तु जब स्वभाव में स्थित होकर देखोगे, तब ऐसे ही दिखेगा। और जो अज्ञानदृष्टि से देखोगे तो नाना प्रकार का जगत् दिखेगा। हे राजन्, जब इस प्रकार उस देवी ने मुझसे कहा, तब मैं वहाँ से चला और आगे दूसरी सृष्टि में गया। वहाँ देखा कि सब पुरुष ही रहते हैं, स्त्री कोई नहीं। पुरुष से पुरुष उत्पन्न होते हैं। उससे भी आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ न सूर्य था, न चन्द्रमा; न तारे थे, न अग्नि, न दिन था और न रात्रि। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और तारों का प्रकाश होता है, वैसे ही सब अपने प्रकाश से प्रकाशित थे। उनको देखकर मैं आगे और सृष्टि में गया। वहाँ देखा कि आकाश ही से जीव उत्पन्न होकर आकाश ही में लीन होते हैं। इकट्ठे ही सब उपजते और इकट्ठे ही लीन हो जाते हैं। न वहाँ मनुष्य हैं, न देवता हैं, न वेद हैं, न शास्त्र हैं, न जगत् है—इनसे विलक्षण ही प्रकार है।

हे राजन्! इस प्रकार मैंने कई सृष्टियाँ देखी हैं, जो मुझको स्मरण आती हैं। आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ देखा कि सब जीव एक समान हैं। न किसी को रोग है, न किसी को दुःख है—सब एक से गंगा के तीर पर बैठे हैं। हे राजन्! एक और आश्चर्य मैंने देखा है, वह भी सुनो। एक सृष्टि में मैं गया तो वहाँ क्षीरसमुद्र मन्दराचल से मथा जाता था। एक ओर विष्णु भगवान् और देवता थे। मन्दराचल पर्वत रत्नों से जड़ा हुआ था। शेषनाग रस्सी की नाईं लिपटा हुआ था। मथने के लिए दूसरी ओर दैत्य लगे थे। बड़ा शब्द होता था। वहाँ यह कौतुक देखकर मैं आगे गया तो एक और सृष्टि देखी, जहाँ मनुष्य आकाश में उड़ते फिरते थे और देवता मनुष्य की नाईं पृथ्वी पर बिचरते और वेदशास्त्र जानते थे। हे राजन्! एक और आश्चर्य मैंने देखा, वह भी सुनो। एक सृष्टि में मैं जा निकला तो वहाँ मन्दराचल पर्वत पर कल्पवृक्ष का वन था और उसमें मदनिका नाम की एक अप्सरा रहती थी। वहाँ जाकर मैं सो रहा तो ज्यों ही रात्रि का समय आया कि वह अप्सरा मेरे कण्ठ में आ लगी। मैंने जागकर उसको देखा और कहा कि हे सुन्दरी! तूने मुझको किस निमित्त

जगाया ? मैं तो सुख से सो रहा था। उस अप्सरा ने कहा कि हे राजन् ! मैंने इसलिए तुझको जगाया है कि चन्द्रमा उदय हुआ है और चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर बहेगी और नदी की नाईं प्रवाह चलेगा। ऐसा न हो कि उसमें तू बह जाय। हे दशरथ ! इस प्रकार उसने कहा ही था कि नदी का प्रवाह चलने लगा। तब वह अप्सरा उस प्रवाह को देखकर मुझे आकाश को ले उड़ी और पर्वत के ऊपर जहाँ गंगा का प्रवाह चलता था उसके तट पर मुझको बिठा-दिया। सात वर्ष पर्यन्त वहाँ रहकर मैं फिर एक और ब्रह्माण्ड में गया। देखा, वहाँ तारा, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य कुछ भी न थे। उसको देखकर मैं और आगे गया। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड मैंने देखे।

हे राजन् ! ऐसा देश व ऐसी पृथ्वी, नदी और पहाड़ कोई न होगा, जिसको मैंने न देखा हो। ऐसी चेष्टा कोई न होगी, जो मैंने न की हो। कई शरीरों के सुख मैंने भोगे हैं; कितनों के दुःख भोगे हैं। वन, कन्दरा और गुप्त स्थानों में फिरकर सब देखा, परन्तु अग्निदेवता के वर को पाकर फिरता-फिरता मैं थक गया तो भी आगे ही चला गया। अनेक अविद्याकृत ब्रह्माण्ड भी देखे, परन्तु अब उनका अन्त यह पाया है कि यह जगत् भ्रममात्र है। मैंने शास्त्रों में सुना है कि यह जगत् है नहीं, तो भी दुःख देता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल दिखता है, वैसे ही यह जगत् अविचार से दिखता और विचार से निवृत्त हो जाता है। एक आश्चर्य और सुनो। एक ब्रह्माण्ड में मैं गया तो वहाँ महाआकाश था। उस महाआकाश से गिरकर मैं पृथ्वी पर आ पड़ा और वहाँ सो गया। तब मैं महागाढ़ सुषुप्तिरूप हो गया। सब जगत् मुझे भूल गया। जब वह गाढ़ सुषुप्ति क्षीण हुई, तब एक स्वप्न देखा। उसमें तुम्हारा यह जगत् मुझको देख पड़ा। उसमें मुझको पहाड़, कन्दरा, देश और बहुत से गुप्त, प्रकट स्थान दिखे। जहाँ केवल सिद्धों की गति थी, वहाँ भी मैं गया और जहाँ सिद्धों की भी गति न थी, वहाँ भी मैं गया। इस प्रकार अनेक जगत् मैंने देखे, परन्तु आश्चर्य है कि स्वप्न की सृष्टि प्रत्यक्ष जाग्रत् की तरह दिखती थी और स्वप्न के

शरीर जाग्रत् में पड़े दिखते थे। इससे सब जगत् भ्रममात्र है और असत्य ही सत्य होकर दिखाई देता है। इस प्रकार देखकर मैं बड़े आश्चर्य में पड़ा हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चित्कथावर्णनन्नाम द्विशताधिकत्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ २२३ ॥

विपश्चित् बोले, हे राजन्! एक सृष्टि और भी मैंने देखी है, जो इसी महाआकाश में है—अर्थात् इस महाआकाश से भिन्न नहीं। जहाँ तुम्हारी भी गति नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि कोई जाग्रत् में देखा चाहे तो नहीं दिखती, वैसे ही वह सृष्टि है। हे राजन्! पृथ्वी का एक स्थान मेरे देखते-ही-देखते परछाहीं की नाईं फिरने लगा। फिर उस आकाश में वही पहाड़ की नाईं दिखने लगा। यहाँ तक कि मनुष्यों के शरीर और दशों दिशाओं को उसने ढक लिया और आकाश से भी बड़ा दिखने लगा। इससे आकाश में भी न समाता था। उसने सूर्य और चन्द्रमा को भी मेरे देखते ही देखते ढक लिया। फिर भूकम्प सा आया, मानो प्रलयकाल ही आ गया। तब मैंने अपने इष्ट अग्निदेवता की ओर देखकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! तुम मेरी जन्म-जन्म रक्षा करते आये हो, इससे अब भी रक्षा करो; मैं नष्ट होता हूँ। तब अग्नि ने कहा, तू मत डर। फिर मैंने जब अग्नि में प्रवेश किया, तब अग्नि ने कहा कि मेरे वाहन पर सवार होकर मेरे स्थान को चल। फिर अग्निदेव मुझको अपने वाहन तोते पर चढ़ाकर आकाशमार्ग से तुरन्त ले उड़े। जब हम उड़े, तब पीछे से वह शव पृथ्वी पर गिरा। उसके गिरने से सुमेरु जैसे पर्वत भी पाताल को चले गये। वह महाशरीर सैकड़ों सुमेरु के समान गिरा। मन्दराचल, मलयाचल, अस्ताचल आदि जो बड़े-बड़े पर्वत थे, वे भी नीचे को धँस गये। पृथ्वी में गढ़े पड़ गये। उसके शरीर के नीचे जो वृक्ष, मनुष्य, दैत्य, स्थावर, जङ्गम आये, वे सब नष्ट हो गये। बड़ा उपद्रव उदय हुआ। निदान उसके शरीर से सब दिशा पूर्ण हो गईं। उसके अङ्ग ब्रह्माण्ड के भी बाहर निकल गये। हे राजन्, दशरथ! इस प्रकार भयानक दशा देखकर मैं अपने इष्टदेव अग्नि से

बोला कि हे देव ! यह उपद्रव क्योंकर हुआ ? यह सब क्या है और ऐसा शरीर क्यों पड़ा है ? आगे तो कोई भी ऐसा शरीर नहीं देखा-सुना ? अग्नि ने कहा, तू अभी चुप रह। यह सब वृत्तान्त मैं तुमसे कहूँगा, पर प्रथम इसको शान्त होने दे। इस प्रकार अग्नि कहते ही थे कि देवता, विद्याधर, गन्धर्व और सिद्ध आदि जितने स्वर्गवासी थे, वे सब आकर स्थित हुए और विचार करने लगे कि यह उपद्रव प्रलयकाल के विना ही हुआ है। इसका नाश करने को देवीजी की आराधना करनी चाहिए। हे राजन् ! यों विचारकर वे देवी की स्तुति करने लगे कि हे देवि, शववाहिनि, चण्डिके ! हम तेरी शरण आये हैं, इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशववृत्तान्तवर्णनन्नाम द्विशताधिकचतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २२४ ॥

विपश्चित् बोले, हे दशरथ ! उन देवताओं ने स्तुति करके शव की ओर जो देखा तो क्या देखते हैं कि सातों द्वीप उसके उदर में समा गये हैं, भुजाओं से सुमेरु आदिक पर्वत ढक गये हैं। उसके दूसरे अङ्ग ब्रह्माण्ड को भी नाँघ गये हैं, साथ ही पाताल को भी गये हैं। निदान उनकी मर्यादा कहीं पाई नहीं जाती थी। एक ही अंग से पृथ्वी छिप गई। यह देखकर विद्याधर, गन्धर्व और सिद्ध आदि सम्पूर्ण नभचर स्तुति करने लगे—हे अम्बे, चण्डिके ! अपने गण को साथ लेकर इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो—हम तेरी शरण आये हैं। हे राजन् ! जब इस प्रकार स्तुति करके देवता आराधना करने लगे, तब चण्डिका आकाशमार्ग से यक्ष, वैताल, भैरव आदि अपने गणों को लेकर आईं और जैसे मेघ सब दिशाओं को ढक लेता है, वैसे ही सब ओर से उनके गणों ने आकर आकाश को ढक लिया। चण्डिका ऐसे तेजस्वीरूप को रखे हुए चली आती थीं, मानो अग्नि की नदी चली आती हो। उनके लाल नेत्र, शिर पर पके केश और श्वेत दाँत थे। वह बड़े शस्त्र धारण किये थीं। कई कोटि योजन तक उनका विस्तार था। वह सब दिशा और आकाश अपने शरीर से आच्छादित किये, कण्ठ में

मुण्डों की माला पहिने, मुरदे वाहन पर आरूढ़ थीं। परमात्मपद में उनकी स्थिति थी। वह ऐसी महाप्रकाशमान थीं, मानो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि के प्रकाश को भी लज्जित कर रही थीं। वह हाथों में खड्ग, मूसल, ध्वजा, ऊखल आदि नाना प्रकार के शस्त्र धारण किये आकाश में तारागण की नाईं गर्जती हुई गणों सहित इस प्रकार चली आती थीं, मानो समुद्र से निकली साक्षात् बड़वाग्नि चली आती हो।

जब वह निकट आई, तब देवता फिर प्रार्थना करने लगे कि हे अम्बे! इसका नाश करो व अपने गणों को आज्ञा दीजिये कि इसका भक्षण करें। हम इसको देखकर बड़े शोक को प्राप्त हुए हैं और तेरी शरण हैं। इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो। हे राजा दशरथ! जब इस प्रकार देवताओं ने कहा तब चण्डिका ने प्राणवायु को खींचा और शव में जितना रक्त था, वह सब पी गईं। जैसे समुद्र को अगस्त्यजी ने पी लिया था, वैसे ही उन्होंने रक्त पान किया। जब उससे देवी का उदर और अङ्ग सब पूर्ण हो गये और नेत्र लाल हो आये, तब देवी नृत्य करने लगीं। उनके सब गण उस शव को खाने लगे, कई मुख को खाने लगे, कई भुजा को, कई उदर को, कई वक्षःस्थल को, कई टाँगों को और कई चरणों को। इसी प्रकार उसके सब अंगों को गण खाने लगे। कई गण आँतें लेकर आकाश में सूर्य के मण्डल को गये। कई गण उस शव के अन्त पाने को उड़े, सो मार्ग ही में मर गये, परन्तु कहीं अन्त न पाया। देवी जो उस शव की ओर देखती थी इससे उसके नेत्रों से अग्नि निकलती थी। उस आग से मांस पकता था और गण भोजन करते थे। मांस पकने के समय जो शरीर से रक्त निकलता था, उससे मन्दराचल और हिमाचल पर्वत लाल हो गये—मानो पर्वतों ने भी लाल वस्त्र पहिने हों। रक्त की नदियाँ बहने लगीं। जो बड़े सुन्दर स्थान और दिशाएँ थीं, वे सब भयानक हो गईं। पृथ्वी के सब जीव नष्ट हो गये। पर जो पहाड़ की कन्दरा में जाकर छिप रहे थे, वे बच गये, शेष सब नष्ट हो गये। राम ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि उसके नीचे प्राणी आकर सब नष्ट हो

गये और अंग उसके ऐसे कहते हो कि ब्रह्माण्ड को भी नाँघ गये। फिर कहते हो कि देवता बच रहे, इसका क्या कारण है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो उसके शरीर और अंग के नीचे आये वे तो नष्ट हो गये, पर मुख और ग्रीवा में कुछ भेद है। तिसमें जो पोल है उसमें और गोदी और टाँग के नीचे के पोल में तथा सुमेरु, मन्दराचल, उदयाचल और अस्ताचल पर्वतों की कन्दराओं के पोल में बैठे हुए देवता बच गये। और जो अङ्ग के छिद्रों में रहे, वे भी बच रहे और कहने लगे कि बड़ा कष्ट है जो हमारे बैठने के कई स्थान नष्ट हो गये। हाय ! वे वृक्ष कहाँ गये, हमारा बरफ़ का पर्वत कहाँ गया, उनकी सुन्दरता कहाँ गई, वन और बगीचे कहाँ गये, चन्दन के वृक्ष कहाँ गये और वे जनों के समूह कहाँ गये, जो हमको यज्ञ करके पूजते थे ? वे ऊँचे वृक्ष कहाँ गये, जिनके फूल और टहनी ब्रह्मलोक तक जाती थीं ? वह क्षीरसमुद्र कहाँ गया, जिसके मथने से बड़ा शब्द हुआ था ? उसके पुत्र, अर्थात् उससे उत्पन्न रत्न, कल्पवृक्ष और चन्द्रमा कहाँ गये ? जम्बूद्वीप कहाँ गया, जिसमें जम्बू के रस की नदी बहती थी और सुवर्णवत् जल के भँवर उठते थे ? ईख के रस का समुद्र कहाँ गया ? हा कष्ट ! हा कष्ट ! शक्कर और मिसरी के पर्वत और अप्सराओं के बिचरने के स्थान कहाँ गये ? पृथ्वी कहाँ गई ? वे नन्दनवन के स्थान कहाँ गये, जहाँ हम अप्सराओं के साथ विहार करते थे ? उन सबका अभाव हमको शूल सा चुभता है। जैसे फल को कण्टक चुभते हैं; वैसे ही उन वस्तुओं के आभासरूपी कण्टक हमको चुभते हैं। इसी प्रकार वे अति शोकवान् हुए और कहने लगे—हा कष्ट ! हा कष्ट !

इधर विषयों का स्मरण करके देवता शोक करते थे और उधर उस शव के जितने अंग थे, उनको गणों ने भोजन कर लिया और उससे अघा गये। कुछ मेदा का पिण्ड शेष रह गया था, उससे बहुत दुर्गन्ध हुई। उस पिण्ड की पृथ्वी हो गई। इससे उसका नाम मेदिनी हो गया। मोटे हाड़ों के सुमेरु आदि पर्वत हुए। तब ब्रह्माजी ने देखा कि सब विश्व शून्य सा हो गया है, तब उन्होंने संकल्प किया कि अब

फिर मैं सृष्टि रचूँगा। निदान पहले की नाईं उन्होंने सृष्टि रची और जगत् का सब व्यवहार उसी प्रकार चलने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वयंमाहात्म्यवृत्तान्तवर्णनन्नाम द्विशताधिकपञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ २२५ ॥

विपश्चित् बोले, हे दशरथ! जब यह सब हो रहा था, तब मैंने अपने इष्टदेवता से, जो तोते के वाहन पर सवार थे, प्रश्न किया कि हे महादेव! सब जगत् के ईश्वर और सब जगत् के भोक्ता! यह शव कौन था, कहाँ स्थित था और किस प्रकार गिरा? अग्नि बोले, हे राजन्! यह अनन्त त्रिलोकी जिसका आभास है, उससे इस शव का वृत्तान्त वर्णन हो सकता है। एक त्रिलोकी से इसका वृत्तान्त नहीं वर्णन हो सकता। हे राजन्! एक परम आकाश है, जो चिन्मात्र पुरुष सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त है। वह आत्मतत्त्व केवल अपने रूप में स्थित है, पर उसका जो आभास संवेदन फुरना है, वही किञ्चन होता है। वह जब किसी स्थान में फुरता है, तब ऐसी भावना होती है कि मैं तेज का अणु हूँ। उस भावना के कारण से वह चित् संवेदन अणु सा हो जाता है। जैसे कोई पुरुष सोया हो। और स्वप्न में अपने को मार्ग में चलता देखता हो, अथवा जैसे तुम स्वप्न में अपने को सोया हुआ देखो, वैसे ही चित्संवेदन ने अपने को अणु जाना। जैसे फुरना ब्रह्मा को हुआ है, वैसे ही धूल के कण का भी अधिष्ठान में फुरना समान रूप से हुआ। जब उस अणु को शरीर की भावना होती है, तब अपने साथ शरीर देखता है। शरीर के होने से नेत्र आदि इन्द्रियाँ घनी होती हैं, तब यह शरीर अपने को और इन्द्रियों से मिला हुआ जानता है। जब अपनारूप जानकर जीव उनको ग्रहण करके इन्द्रियों से विषय को ग्रहण करता है, तब वही चिद्रूप जीव प्रमाद से आधाराधेय-भाव को मानता है। पर अधिष्ठानसत्ता में कुछ हुआ नहीं। वह अद्वैत-सत्ता ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में प्रमाद से जीव अपने को किसी गृह में बैठे देखता है, वैसे ही यहाँ प्रमाद से आधा-राधेयभाव को देखता है, प्राण और मन अहंकार को धारण करता है

और जानता है कि मेरे माता-पिता हैं और मैं अनादि जीव हूँ। अपना शरीर जानकर आगे पाञ्चभौतिक जगत् शरीर को देखता है, तब अपने फुरने के अनुसार अंग होते हैं। इसी प्रकार जो आदि शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व में स्फुरण हुआ तो चित्तकला उपजी। उसने अपने को तेज-अणु जाना ! तब उसमें अहंवृत्ति तो अहंकार हुआ, निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि हुई, चेतनारूप चित्त और संकल्पविकल्परूप मन हुआ। फिर तन्मात्रा उपजी, फिर इच्छा द्वारा उसके शरीर और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। तब देखने की इच्छा हुई। उस संवित् में दृश्य भासित हुआ। तब संवित् शक्ति ने प्रमाददोष से अपने को द्वैतरूप जाना। साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल प्रकटे कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है और यह मेरा कुल है। यह चिरकाल से चला आता है।

इसी प्रकार अहंकार सहित एक दैत्य बिचरने लगा। एक कुटी में एक ऋषि बैठा था, उस कुटी की ओर गया। उसकी कुटी चूर्ण करके जब ऋषि के निकट आया, तब ऋषि ने कहा, रे दुष्ट ! तूने यह क्या चेष्टा ग्रहण की है। अब तू मरकर मच्छड़ होगा। हे विपश्चित् ! उस ऋषि के शापरूपी अग्नि से उसका शरीर भस्म हो गया और उसकी निराकार चेतनसंवित् भूताकाशरूप हो गई। फिर आकाश में उसका वायु से संयोग हुआ और उस मौनी ऋषि के शाप की वासना आकर उदय हुई। जैसे समय पाकर पृथ्वी में बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे ही पञ्चतन्मात्रा उदय हुईं, और अपना मच्छड़ का शरीर, जिसकी आयु दो अथवा तीन दिन की होती है, अज्ञान से भासित हुआ। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो जीव जन्म पाते हैं, वे जन्म से जन्मान्तर को चले आते हैं अथवा ब्रह्मा से उपजे होते हैं—यह कहो ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! कई जन्म से जन्मान्तर को चले आते हैं और कई ब्रह्मा से उपजे होते हैं। जिनको पूर्ववासना का संसरण होता है, वे वासना के अनुसार शरीर पाते हैं और जन्म से जन्मान्तर पाते चले आते हैं। और जिनको संस्कार विना भूत भासित होते हैं, वे ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। हे राम ! आदि में सब जीव संस्काररूपी कारण विना उत्पन्न

हुए हैं। पीछे से जन्मान्तर होता है। जो संस्कार विना भूत भासित हो, उसे जानिये कि ब्रह्मा से उपजा है। और जिसको संस्कार से सृष्टि भासित हो, उसे जानिये कि इसका जन्मान्तर है। यह दो प्रकार से भूतों की उत्पत्ति मैंने तुमसे कही है। अब फिर उस मच्छड़ का क्रम सुनो।

हे राम! जब उसने मच्छड़ का जन्म पाया, तब कमलिनियों में और हरी घास, तृण और पत्तों में मच्छड़ों को साथ लिये रहने लगा। निदान वहाँ एक मृग आया और उसका पैर उस मच्छड़ पर इस प्रकार पड़ा, जैसे किसी पर सुमेरु पर्वत आ पड़े। तब वह मच्छड़ चूर्ण होकर मृतक हो गया। मृतक होने के समय मृग की ओर देखने लगा, इससे मरकर तत्काल ही मृग हुआ और वन में विचरने लगा। फिर एक काल में उसको बधिक ने देखकर बाण चलाया। उस बाण से वह मृग विंध गया। विंधे हुए घायल मृग ने बधिक की ओर देखा, इसलिए वह मरकर बधिक हुआ और धनुष बाण लेकर मृग और पक्षियों को मारने लगा। एक समय वह वन को गया। वहाँ एक मुनीश्वर को देख उनके निकट जा बैठा। तब मुनीश्वर ने कहा, भाई! तूने यह क्या पापचेष्टा आरम्भ की है? इस चेष्टा से तो तू नरक को जायगा। इससे किसी जीव को दुःख न दे। जिन भोगों के लिए तू यह चेष्टा करता है, वे बिजली की चमक जैसे क्षणिक हैं। जैसे मेघ में बिजली की चमक होती है और फिर मिट जाती है, वैसे ही ये भोग भी होकर मिट जाते हैं। जैसे कमल के पत्ते पर जल की बूँद ठहरती है, पर उसकी आयु कुछ नहीं होती, क्षण भर में वह गिर पड़ती है, वैसे ही इस शरीर की आयु कुछ नहीं है। जैसे अञ्जलि में डाला जल नहीं ठहरता, वैसे ही जवानी चली जाती है। यौवन क्षणभंगुर और असार है। उसमें भोगना क्या है? इनसे कभी शन्ति नहीं होती। जो तुझको शान्ति की इच्छा हो तो निर्वाण होने का प्रयत्न कर। तब तू दुःख से मुक्त होगा। अपने हिंसाकर्म को त्याग दे। इसके करने से नरक में जायगा और कभी तुझको शान्ति न प्राप्त होगी। तू अपने हाथ से अपने पैर पर क्यों कुल्हाड़ी मारता है, अपने नाश के लिए क्यों विष-बीज बोता

है ? इस कर्म से तू दुःखरूप संसार में भटकता फिरेगा और शान्ति कभी न होगी। इससे अब तू वही उपाय कर, जिससे संसारसमुद्र के पार हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मच्छरव्याधवर्णनन्नाम द्विशताधिकषड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २२६ ॥

अग्नि बोले, हे राजन्! ऋषीश्वर ने जब इस प्रकार उस बधिक से कहा, तब उसने धनुषबाण डाल दिया और बोला, हे भगवन्! जिस प्रकार मैं संसारसमुद्र के पार हो जाऊँ, वह उपाय कृपा करके मुझसे कहिये। परन्तु वह उपाय दुःसाध्य न हो और न मृदु हो अर्थात् जो अल्प भी न हो और कठिन भी न हो। ऋषीश्वर बोले, हे बधिक! मन को एकाग्र करने का नाम शम है। इन्द्रियों के रोकने को दम कहते हैं—वही मौन है। मन को एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उपजता है। इससे संसारभ्रम निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। अग्नि बोले, हे राजन्! इस प्रकार जब ऋषीश्वर ने कहा, तब वह बधिक उठ खड़ा हुआ और प्रणाम करके तप करने लगा। इन्द्रियों को उसने संयम में रक्खा और जो अनिच्छित यथाशास्त्र प्राप्त होता उसका भोजन करने लगा। हृदय से सब क्रियाओं की मौनवृत्ति धारण की। जब उसको कुछ काल तप करते व्यतीत हुआ, तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ। वह ऋषीश्वर के निकट आ प्रणाम करके बैठ गया और बोला, हे भगवन्! बाहर जो दृश्य है, वह हृदय में किस प्रकार प्रवेश करता है और स्वप्न में अन्तर की सृष्टि बाह्यरूप हो कैसे दिखती है ? यह कृपा करके कहो।

ऋषीश्वर बोले, हे बधिक! तू ने यह बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है। यही प्रश्न मैंने भी गणपति से किया था और उनके कहने से मैंने जो जाना है, सो सुन। एक समय यही सन्देह दूर करने का उपाय मैंने भी किया था। पद्मासन बाँध, बाहर की इन्द्रियों को रोक मन में लगाया और मन, बुद्धि आदि को पुर्यष्टका में स्थित किया। फिर पुर्यष्टका को भी शरीर से विरक्त किया, और उसे आकाश में निराधार ठहराया। निदान

जब विलक्षण होना चाहता, तब विलक्षण हो जाता और जब शरीर में व्यापा चाहूँ, तब व्याप जाता। हे बधिक ! इस प्रकार जब मैं योग-धारणा से पूर्ण हुआ, तो एक समय मैंने देखा एक पुरुष मेरी कुटी के पास सो रहा था और उसकी स्वाँस भीतर-बाहर आती-जाती थी। उसको देखकर मैंने यह इच्छा की कि इसके भीतर जाकर कौतुक देखूँ कि क्या अवस्था होती है। ऐसे विचार कर मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा करके उसके श्वासमार्ग से भीतर प्रवेश किया। जैसे ऊँट ऊँघता हो और उसके श्वासमार्ग से भीतर सर्प प्रवेश करे, वैसे ही मैंने प्रवेश किया। उसके भीतर अपने-अपने रस को ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ मुझे देख पड़ीं। कई वीर्य को ग्रहण करनेवाली हैं, कई रक्त और कफ को ग्रहण करती हैं, कई मलमूत्रवाली हैं। अनेक विकार जो उसके भीतर थे, सो सब देखे। इससे मैं अप्रसन्न हुआ कि यह तो महा अपवित्र स्थान है। यहाँ रक्तमज्जा से युक्त महानरक के तुल्य अन्धकार है। फिर और आगे गया तो वहाँ एक कमल देखा, जिसमें उसका संवेदन फुरता था और संवित्शक्ति, जो महातेज युक्त हृदयाकाश है, वह भी वहाँ स्थित था। वही त्रिलोकी का आदर्श है, त्रिलोकी में जो पदार्थ हैं, उनका दीपक है और सब पदार्थों की सत्ता है। ऐसी संवित्-रूपी जीवसत्ता वहाँ स्थित थी। उससे मैं तद्रूपता को प्राप्त हुआ। फिर मैंने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, देवता, गन्धर्व आदि नाना प्रकार के स्थावर-जंगम विश्व को देखा। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित सम्पूर्ण सृष्टि को उसके भीतर देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि उसके भीतर सृष्टि क्योंकर भासित हुई।

हे बधिक ! उसने जाग्रत् में उस सृष्टि का अनुभव इन्द्रियों से किया था और भीतर चित्तत्व में उसका संस्कार हुआ था। वही भीतर भासने लगा। भीतर जो भूतसत्ता थी, वह उसके स्वप्न में बाहर सृष्टिरूप बनी और मुझको प्रत्यक्ष भासित होने लगी। जैसे जाग्रत् प्रत्यक्ष अर्थाकार भासता है, वैसे ही मुझको यह सृष्टि भासित होने लगी। हे बधिक ! इस जाग्रत् सृष्टि और उस स्रष्टि में मैंने कुछ भेद न देखा—दोनों तुल्य

हैं। चिरपर्यन्त प्रतीति का नाम जाग्रत् है और अल्पकाल की प्रतीति का नाम स्वप्न है। पर स्वरूप से दोनों तुल्य हैं। जो उसके स्वप्न के अनुभव में था, वह मुझको जाग्रत् दिखा और जो मुझको जाग्रत् दिखा, वह उसको स्वप्न दिखा। निद्रादोष से उसको स्वप्न हुआ, सो उसको भी उस काल में जाग्रत्रूप भासित होने लगा, क्योंकि स्वप्न जो स्वप्नरूप है, सो जाग्रत् में स्वप्न है, और स्वप्न में तो जाग्रत् है। वैसे जाग्रत् भी अपने काल में जाग्रत् है, नहीं तो स्वप्नरूप है। इसलिए जाग्रत् में भी जो सत्य की प्रतीति है, वही प्रमाद है। इन दोनों में कुछ भेद नहीं, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न दोनों का अधिष्ठान चैतन्यसत्ता परब्रह्म ही है और उसी के प्रमाद से प्राण के साथ सम्बन्ध हुआ है। जब प्राण से चित्तसंवेदन मिलता है, तब उस स्फुरण रूप के जीव, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि नाम होते हैं। वही संवेदन, जो बाह्यरूप हो फुरता है, तब जाग्रत्रूप जगत् होकर भासित होता है। और पाँच ज्ञानइन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय ये चौदह अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं—इसका नाम जाग्रत् है। जब चित्तस्पन्दन निद्रादोष से अन्तर्मुख फुरता है, तब नाना प्रकार की स्वप्न की सृष्टि देखता है और उस काल में वही जाग्रत्रूप भासित होता है। अधिष्ठान आत्मसत्ता जब संवेदन उसकी ओर फुरती है और बाह्यविषय के स्फुरन से रहित होती है, तब न जाग्रत् भासित होती है और न स्वप्न भासित होता है, केवल निर्विकल्प आत्मसत्ता शेष रहती है।

हे बधिक! मैंने विचारकर देखा है कि जगत् और कुछ वस्तु नहीं, फुरने ही का नाम जगत् है। जब चित्तसंवेदन स्फुरणरूप होता है, तब जगत् भासता है और जब चित्तसंवेदन फुरने से रहित होती है, तब जगत् की कल्पना मिट जाती है। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि वास्तव में केवल चिन्मात्र है। जगत् कुछ वस्तु नहीं, मिथ्या कल्पनामात्र है। हे बधिक! जगत्-भावना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो।

अब वही वृत्तान्त फिर सुनो। जब उसके भीतर मैंने स्वप्न और

जाग्रत्-अवस्था देखी, तब मैंने यह इच्छा की कि सुषुप्ति अवस्था भी देखूँ। और विचार किया कि सुषुप्ति प्रलय का नाम है, जहाँ द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, तीनों का अभाव हो जाता है। परन्तु जहाँ मैं देखनेवाला हुआ, वहाँ महाप्रलय कैसे होगा और जो मैं जाननेवाला न होऊँ तब सुषुप्ति को कौन जानेगा ? हे बधिक ! तब मैंने विचारकर देखा कि सुषुप्ति और कुछ नहीं। जहाँ चित्त की वृत्ति नहीं फुरती उसी का नाम सुषुप्ति है। ऐसे विचारकर मैंने चित्त को फुरने से रहित किया, तब उसकी सुषुप्ति देखी तो क्या देखा कि न कोई वहाँ अहं और त्वं शब्द है, न शुभ है, न अशुभ है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति की कल्पना है। सब कल्पना से रहित केवल चित्तसत्ता मैंने देखी। जो तुम कहो कि तुमने सुषुप्ति निर्विकल्प कैसे देखी तो उसका उत्तर यह है कि अनुभव ज्ञानरूप आत्मसत्ता सर्वदा ज्यों की त्यों है। उसमें जैसा आभास फुरता है, वैसा ही ज्ञान होता है। यह जो तुम भी दिन प्रतिदिन देखते हो और सुषुप्ति से उठकर जानते हो कि मैं सुख से सोया था, सो अनुभव से ही देखते हो। वैसे ही मैंने भी वह देखा, जहाँ चित्तसंकल्प कोई नहीं फुरता, केवल निर्विकल्प है, परन्तु सम्यग्बोध से रहित है। उसी अभाव वृत्ति का नाम सुषुप्ति है। फिर मुझको तुरीयावस्था देखने की इच्छा हुई। पर तुरीयावस्था देखना महाकठिन है।

तुरीयावस्था साक्षीभूत वृत्ति का नाम है। वह सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होती है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिअवस्था की साक्षी और सुषुप्ति की नाईं है। जैसे सुषुप्ति में अहं, त्वं आदि कोई कल्पना नहीं होती, वैसे ही तुरीयावस्था में भी नहीं। उसमें ब्रह्म का सम्यग्बोध होता है, पर सुषुप्ति जड़ीभूत तमरूप अविद्या होती है। तुरीयावस्था में जड़ता नहीं होती, सुषुप्ति और तुरीयावस्था में इतना ही भेद होता है। सच्चिदानन्दसाक्षी वृत्ति होती है। सम्यग्बोध का नाम तुरीयपद है। तुरीय इससे भिन्न नहीं। ऐसे निश्चय से मैंने उसको देखा। हे बधिक ! चारों अवस्था मैंने माया अर्थात् स्फुरण से सहित भिन्न-भिन्न देखीं, पर आत्मसत्ता अपने

आप में स्थित है। उसमें न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है न सुषुप्ति है और न तुरीयावस्था है–इनका भेद वहाँ नहीं है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत है, और ये चारों अवस्थाएँ चित्त-संवेदन में होती हैं। हे बधिक ! ऐसा अनुभव करके मैं बाहर आया। बाहर भी मुझको वैसे ही दिखने लगा। तब मैंने कहा कि यही जगत् मुझको उसके भीतर दिखा था, वह बाहर कैसे आया ? तब मैंने फिर उसके भीतर प्रवेश किया। प्रथम जब उसके भीतर मैंने प्रवेश किया था और उसके भीतर सृष्टि देखी थी, तब उसका और मेरा संवेदन मिल गया था, पर जब मैंने अपना संवेदन उससे भिन्न किया, तब दो ब्रह्माण्ड हो गये। एक उसका संवेदन फुरने में और एक मेरे संवेदन में भासित होने लगा, क्योंकि मैंने प्रथम उसकी सृष्टि को देख और अर्थरूप जानकर ग्रहण किया था। उसका संस्कार दृढ़ हो गया। आत्मसत्ता के आश्रय से जैसे संवेदन फुरता गया वैसे ही होकर भासित होने लगा। उसका स्वप्न मुझको जाग्रत् होकर भासित होने लगा–जैसे एक दर्पण में दो प्रतिबिम्ब दिखें, वैसे ही एक अनुभव में मुझे दो सृष्टि दिखने लगीं। तब मैंने विचार किया कि सृष्टि संकल्परूप है। संकल्प प्रत्येक जीव का अपना-अपना है और अपने-अपने संकल्प की भिन्न-भिन्न सृष्टि है, इससे अनुभव के आश्रय से जैसा-जैसा संकल्प फुरता है, वैसी-वैसी सृष्टि दिखती है। सृष्टि का कारण और कोई नहीं।

हे बधिक ! आठ निमेष तक मुझको दो सृष्टि दिखती रहीं। फिर मैंने उसके और अपने चित्त की वृत्ति इकट्ठी करके मिलाई तो दोनों तद्रूप हो गईं–जैसे जल और दूध मिलकर एकरूप हो जाते हैं। तब दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। जैसे दृष्टि भ्रम से आकाश में दो चन्द्रमा दिखते हैं और भ्रम के न रहने पर दूसरे चन्द्रमा का अभाव हो जाता है, वैसे ही द्वितीय वृत्ति के अभाव से दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। निदान एक ही सृष्टि दिखने लगी, नाना प्रकार के व्यवहार होते दिखे और चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र स्पष्ट भासित होने लगे। कुछ काल के उपरान्त चित्त की वृत्ति सुषुप्ति की ओर आई

और स्वप्न की सृष्टि का विस्तार लीन होने लगा—जैसे सन्ध्या के समय सूर्य की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं। जब वह सृष्टि चित्त में लय होने लगी, तब स्वप्न की सृष्टि मिट गई; सुषुप्ति अवस्था हुई और सब इन्द्रियाँ स्थिर हो गईं। हे बधिक! सुषुप्ति तब होती है, जब जीव अन्न भोजन करता है और वह जब संवाही नाड़ी पर आकर स्थित होता है, तब जा तवाली नाड़ी ठहर जाती है, उससे प्राण भी ठहर जाते हैं। तब मन भी ठहर जाता है। उसका नाम सुषुप्ति है। जब मन फिर फुरता है, तब जाग्रत् अवस्था होती है। इतना सुन राम ने पूछा, हे मुनीश्वर! जब मन प्राणों ही से चलता है, तब मन का अपना रूप तो नहीं हुआ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम! परमार्थ से कहिये तो देह ही नहीं है, तो मन क्या हो। जैसे स्वप्न में पहाड़ दिखते हैं, वैसे ही यह शरीर दिखता है, क्योंकि सबका आदि-कारण कोई नहीं, इससे जगत् मिथ्याभ्रम है—केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जो तत्त्ववेत्ता हैं, उनको तो ऐसे ही भासित होता है। अज्ञानी के निश्चय को हम नहीं जानते। जैसे सूर्य उलूक के अनुभव को नहीं जानता और उलूक सूर्य के निश्चय को नहीं जानता, वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय भिन्न-भिन्न होता है। शुद्ध चिन्मात्र आकाश में जगत्-भ्रम कुछ नहीं है, पर स्फुरणभाव से जीव अपने चेतन वपु को भूल, ज्ञान विना ही मनभाव को प्राप्त होता है और तब मन आत्मसत्ता के आश्रित होकर प्राणवायु को अपना आश्रय कल्पना करता है कि यह मेरा प्राण है। हे राम! फिर जैसे-जैसे मन कल्पना करता है, वैसे-वैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् दिखते हैं। परब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न है। उसमें जैसी-जैसी भावना से मन फुरता है, वैसा ही वैसा रूप भासित होता है। वास्तव में और कुछ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। मन का फुरना जैसे-जैसे दृढ़ हुआ है, वैसे ही वैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् भासित होने लगा है। जैसे स्वप्न में कल्पनामात्र जगत् दिखता है, वैसे ही इसे जानो। हे राम! जितने विकल्प उठते हैं, वे सब मन के रचे हुए हैं। जब मन उदय होता है, तब यह स्फुरण होता

है कि यह पदार्थ सत्य है और यह असत्य है। जब चित्तशक्ति का मन से सम्बन्ध होता है, तब प्रथम प्राण उदय होते हैं और प्राण को ग्रहण करके मन कहता है कि मैं जीव हूँ; प्राण ही मेरी गति है, प्राण के बिना मैं कहाँ था? फिर कहता है कि जब प्राण का वियोग होगा, तब मैं मर जाऊँगा, फिर न रहूँगा। फिर ऐसे कहता है कि मरकर भी मैं जियूँगा। हे राम! संशयवाले को न इस लोक में सुख है और न परलोक में। जब तक आत्मबोध का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक चित्त भी निर्वाण नहीं होता और विकल्प भी नहीं मिटते।

हे राम! मन के विस्मरण का उपाय आत्मज्ञान के सिवा कोई नहीं है और मन के शान्त हुए बिना कल्याण भी नहीं होता। दो उपायों से मन शान्त होता है। मन की वृत्ति स्थित करने और प्राण-स्पन्द के रोकने से मन स्थिर होता है, तब प्राण रुक जाते हैं। और प्राण के स्पन्दन को रोकने से भी मन स्थिर होता है। जब प्राण क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब चित्त में भी क्षोभ होता है और तभी जीव आध्यात्मिक और आधिभौतिक तापों की अग्नि से जलता है। मन को स्थिर करने से परमसुख प्राप्त होता है। इस मन की स्थिति दो प्रकार की है—एक ज्ञान की स्थिति, दूसरी अज्ञान की स्थिति। जब प्राणी बहुत अन्न भोजन करता है, तब वह नाड़ी पर जाकर स्थित होता है और प्राण ठहर जाता है। जब प्राण ठहरता है, तब मन भी जड़ीभूत हो जाता है, उसी का नाम सुषुप्ति है। वे नाड़ी कौन हैं, जिन पर अन्न जाकर स्थित होता है? वे नाड़ी वे ही हैं, जिनके मार्ग से जाग्रत् में प्राण निकलते हैं। जब वासना के साथ वे ही नाड़ी रोकी जाती हैं, तब मन सुषुप्ति हो जाता है। यह अज्ञानी के मन की स्थिति है, क्योंकि उसमें जड़ता है, अतएव वह संसार को लिये शीघ्र ही फिर उठ आता है। जैसे पृथ्वी में बीज समय पाकर अंकुरित होता है, वैसे ही वह संस्कार-वश फिर सुषुप्ति से उठता है। जो ज्ञानवान् सम्यक्दर्शी है, उसका चित्त चेतनता के लिए स्थिर होता है। वह चेतनता दो प्रकार की है—एक तो योगी को होती है, जिससे वह समाधि में मन को

स्थिर करता है। वह समाधिनिष्ठ चित्त है; जड़ता नहीं। जैसी सुषुप्ति में जड़ता होती है, वैसी जड़ता वह नहीं है। दूसरे, ज्ञानवान् जीवन्मुक्त के चित्त की वृत्ति सम्यक्ज्ञान से स्थिर होती है, क्योंकि उसका चित्त वासना से रहित है। यही स्थिति है। जिसका चित्त इस प्रकार स्थिर है, उसी पुरुष को शान्ति होती है, और जिसका चित्त वासना सहित है उसको कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। उसके दुःख भी नहीं मिटते। उसका चित्त निर्वासनिक करने को सम्यक्ज्ञान का कारण यह मेरा शास्त्र ही है। इसके समान और कोई उपाय नहीं। हे राम! यह जो मोक्ष का उपाय शास्त्र मैंने कहा है, उसके विचार से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होगी। इससे सर्वदा इसी का विचार करना चाहिए। जब इसको भली प्रकार विचारोगे, तब चित्त निर्वासनिक हो जायगा।

अब वही बधिक का प्रसंग सुनो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जब मैंने उस पुरुष के चित्त में प्राणमार्ग से प्रवेश किया, तब देखा, उसके प्राण रोके गये हैं और अन्न से जो जाग्रत् नाड़ी फुरती थी, वह भी रोकी गई है, क्योंकि अन्न पचा न था, इस कारण वह सुषुप्ति में था। उसकी सुषुप्ति में मुझको भी अपना आपा भूल गया। जब कुछ अन्न पचा, तब उसके प्राण जागने लगे और जब प्राण जगने लगे तब चित्त की वृत्ति ने भी कुछ जड़ता को त्यागा। पर सम्पूर्ण जड़ता नहीं गई। प्राण के जगने से चन्द्रमा, सूर्य आदि जो कुछ विश्व है, वह भी जगा। तब मैंने नाना प्रकार के जगत् को देखा और मुझे अपना पूर्वसंस्कार भूल गया। निदान वहाँ मैं भी अपने कुटुम्ब में रहने लगा। साथ ही मुझे अपनी कुटी दिखी और स्त्री, पुत्र, भाई, जन, बान्धव सब दिखे। फिर मेरे देखते-देखते प्रलयकाल के पुष्कर मेघ गर्जने लगे, मूसलधार जल बरसने लगा और सातों समुद्र उमड़ने लगे। निदान जो कुछ प्रलयकाल के उपद्रव होते हैं, वे सब प्रकट हुए। प्रथम अग्नि लगी। जब अग्नि लग चुकी और सब स्थान जल गये, तब जल का उपद्रव प्रकट हुआ। तब मैंने क्या देखा कि नगर, ग्राम, पुर, मनुष्य, पशु, पक्षी सब बहते जाते हैं। हाहाकार शब्द के साथ बड़ा क्षोभ हुआ। मैंने

और एक आश्चर्य देखा कि मेरी कुटी भी बही जा रही है, मेरे स्त्री, पुत्र, भाई, जन इत्यादि भी सब जल के प्रवाह में बहे जा रहे हैं। जिस स्थान में हम थे, वह स्थान भी बहा जा रहा था और मैं भी लुढ़कता जाता था। निदान बहते-बहते मुझको ऐसा कष्ट हुआ कि कहा नहीं जा सकता। एक तरङ्ग से तो मैं ऊपर को चला जाता और एक तरंग के साथ नीचे चला जाता। तब मुझे अपना पूर्व शरीर याद आ गया। जितना कुछ जगत् है, वह मुझको सब दिखने लगा। सब मिथ्या रागद्वेष मिट गया और शरीर की सब चेष्टा उसी प्रकार होने लगी। तरङ्ग के साथ कभी ऊपर और कभी नीचे आता-जाता था। परन्तु मेरा हृदय शान्त हो गया। उस समय नगर, देश और मण्डल बहते जा रहे थे। त्रिनेत्र सदाशिव और विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, सिद्ध आदि सब बहते जा रहे थे। अष्टदल कमल की पंखड़ी पर बैठे ब्रह्माजी और इन्द्र, कुबेर और विष्णु भी अपनी-अपनी पुरियों सहित बहते जा रहे थे। पहाड़, द्वीप, लोकपाल भी बहते जा रहे थे। सब पातालवासी प्रलय के जल में बहते जा रहे थे। यम भी अपने वाहन सहित बहते जा रहे थे। किसी में ऐसी सामर्थ्य न थी कि किसी को कोई निकाले, क्योंकि आप ही सब बहते जा रहे थे और डूबते और ग़ोते खाते थे। बड़े ऐश्वर्यशाली देवता भी बहे जा रहे थे। जो संसार-सुख के लिए यत्न करते हैं, वें महामूर्ख हैं। लोग जिनके लिए यत्न करते हैं, वे सुख और सुख के देनेवाले सब बहते जा रहे थे। वैसे ही सब ऋषीश्वर भी बहते जा रहे थे। हे बधिक ! मैंने इस प्रकार उसके स्वप्न में महाप्रलय होता देखा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तरस्वप्नमहाप्रलयवर्णनन्नाम द्विशताधिकसप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २२७ ॥

बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह महाप्रलय तुमने कहा कि उसमें ब्रह्मादिक भी बहते जा रहे थे। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक तो स्वतंत्र ईश्वर हैं, वे परतन्त्र हुए बहते जाते तुमने कैसे देखे ? वे अन्तर्धान क्यों न हुए ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह जो प्रलय हुआ सो क्रम

से नहीं हुआ। जब क्रम से प्रलय होता है, तब ये ईश्वर समाधि से शरीर को अन्तर्धान कर लेते हैं। परन्तु यहाँ तो अन्तर्धान होने से पहले जल चढ़ गया। इसका कुछ नियम नहीं; क्योंकि यह जगत् भ्रमरूप है। इसमें क्या आस्था करनी है। स्वप्न में क्या नहीं बनता और स्वप्नभ्रान्ति से विपर्यय भी होते हैं, इसलिए उनको बहते देखा। व्याध ने पूछा, हे मुनीश्वर! जब वह स्वप्न भ्रम था तो उसका वर्णन क्यों किया? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! तुझसे इस समानता का अर्थ कहता हूँ। मैं कह चुका हूँ कि स्थावर जङ्गम जगत् बहता देखा और साथ ही मैं भी बहता जाता था, जल की लहरें उछलती थीं और उन तरङ्गों में मैं भी उछलता था, परन्तु मुझको कुछ कष्ट न होता था! निदान मैं बहता बहता एक किनारे पर जा लगा। उसके पास एक पर्वत था, उसकी कन्दरा में पहुँचा। वहाँ मैंने देखा कि जीव बहते हैं और जल भी सूखता जाता है। जल के सूखने से कीचड़ हो गई। किसी जगह जल रहा, उसमें कई डूबते दिखते थे। कहीं ब्रह्मा के हंस, कहीं यम के वाहन और कहीं विष्णु के वाहन कीचड़ में पहाड़ की नाईं डूबते देख पड़ते थे। कहीं इन्द्र के हाथी और विद्याधर आदि वाहन कीचड़ में धँसे देख पड़े। देवता, सिद्ध, गन्धर्व, लोकपाल भी देखे। इससे मुझे आश्चर्य हुआ।

हे बधिक! इस प्रकार देखता हुआ जब मैं पहाड़ की कन्दरा में सो गया, तब मुझको अपनी संवित् में स्वप्न आया। उसमें मैंने चन्द्रमा, सूर्य आदि नाना प्रकार के भूत जलते देखे, नगर और पर्वत जलते देखे और जगत् बड़े खेद को प्राप्त हुआ देखा। जब रात्रि हुई तो मैं वहाँ सोया हुआ स्वप्न को देखता रहा। दूसरे दिन मैंने फिर उसमें जगत् देखा। सूर्य, चन्द्रमा, देश, नदियाँ, समुद्र, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी नाना प्रकार की क्रियाएँ करते देख पड़ने लगे। मैंने अपना सोलह वर्ष का शरीर देखा। मुझे अपने पिता और माता देख पड़े! उनको देख मैंने पिता और माता जाना और उन्होंने मुझको अपना पुत्र जाना। निदान स्त्री, कुटुम्ब, बान्धव समस्त मुझको देख पड़े। मैं बोध से रहित और तृष्णा सहित था, इससे मुझमें अहं-मम का अभिमान

जगा। मैंने एक ग्राम में, जहाँ मेरा गृह था, ईंट और काष्ठ संग्रह करके एक कुटी बनाई। उसके चौफेर बेल-बूटे लगाकर एक आसन बनाया, जहाँ कमण्डलु और माला पड़ी थी। मैं ब्राह्मण था, मुझको धन कमाने की इच्छा हुई। और जो कुछ ब्राह्मण का आचार व चेष्टा थी, वह भी मैं करता था। बाहर जाकर ईंट और काष्ठ ले आता और आकर कुटी बनाता था। यह चेष्टा मेरी होने लगी। शिष्य और सेवक मेरी पूजा करने लगे। मैं यथायोग्य उनको आशीर्वाद देता था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में मैं चेष्टा करने लगा। मेरे मन में यह विचार उपजा कि यह कर्तव्य है, इसके करने से भला होता है। नदियों और तालाबों में मैं स्नान करता, गौ की टहल करता और अतिथि की पूजा करता था। हे बधिक! इस प्रकार चेष्टा करता मैं सौ वर्ष तक वहाँ रहा। तब एक समय मेरे घर में एक मुनीश्वर आये। मैंने प्रथम उनको स्नान कराया, फिर भोजन से तृप्त किया और रात्रि के समय शय्या पर शयन कराया। इस प्रकार उनकी सेवा कर रात्रि को हम वार्ता-चर्चा करने लगे। उसमें उन्होंने मुझको बड़े पर्वत, कन्दरा और चित्त के मोहनेवाले सुन्दर देश, स्थानों के विषय में नाना प्रकार के संवाद सुनाये। वह कहने लगे कि हे ब्राह्मण! जितने सुन्दर स्थानों का हाल और समाचार तुमको सुनाये हैं, उन सबमें सार एक चिन्मात्ररूप है। इससे सब चिन्मात्र स्वरूप है। सब जगत् उसका चमत्कार और आभास (किञ्चन) है। उससे कोई वस्तु भिन्न नहीं। इससे हे ब्राह्मण! उसी सत्ता को ग्रहण करो, जो सबका अनुभव और परमानन्दस्वरूप है। उसी में स्थित हो जाओ।

हे बधिक! उन मुनीश्वर ने जब इस प्रकार मुझसे कहा, तब पहले ही से मेरा मन योग से निर्मल होने के कारण उनके वचन मेरे चित्त में चुभ गये और मैं अपनी स्वभावसत्ता में जाग उठा। तब मैंने देखा कि सब मेरा ही संकल्प है, मुझसे भिन्न कोई नहीं; मैं तो मुनीश्वर हूँ और यह स्वप्न आया था। मैंने जागकर देखा कि यह उसी पुरुष का स्वप्न था। तब मेरे मन में आया कि किसी प्रकार इसके चित्त से बाहर

निकलूँ और अपने शरीर में प्रवेश करूँ। मैंने फिर विचारा कि यह जगत् तो उस पुरुष का शरीर है। वही पुरुष विराट् है, जिसके स्वप्न में यह जगत् है। परन्तु उस पुरुष को अपने विराट्स्वरूप का प्रमाद है, इससे जैसा हमारा शरीर बना है, उसके स्वप्न में वह भी वैसा एक दूसरा विराट् बन पड़ा है। तो फिर उस विराट् को कैसे जानिये कि उसके चित्त से निकला जाय। हे बधिक! इस प्रकार विचारकर मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा कर उस विराट्स्वरूप के शरीर को देखा। फिर जहाँ चित्त की वृत्ति जगती थी, उसके साथ मिलकर और प्राण के मार्ग से निकलकर मैंने अपनी कुटी को और उसमें अपने शरीर को पद्मासन लगाये देखा। तब मैंने उसमें प्रवेश करके नेत्र खोले तो अपने सामने शिष्य बैठे देखे। वह पुरुष सोया था, उसको भी देखा। एक मुहूर्त बीता, तब मुझे आश्चर्य हुआ कि भ्रम में क्या-क्या चेष्टा देख पड़ती है। यहाँ एक मुहूर्त बीता है और वहाँ मैंने सौ वर्ष का अनुभव किया। बड़ा आश्चर्य है कि भ्रम से क्या नहीं होता। फिर मेरे मन में आया कि उसके चित्त में प्रवेश करके कुछ और कौतुक भी देखूँ। तब प्राण के मार्ग से उसके चित्त में मैंने फिर प्रवेश किया तो देखा, अगली कल्पना बीत गई है; बान्धव, पुत्र, स्त्री, माता, पिता आदि सब नष्ट हो गये हैं और दूसरा कल्प आ गया है। उसका भी प्रलय होता है। बारह सूर्य उदय होकर विश्व जलाने लगे हैं। बड़वाग्नि जलाने लगी हैं। मन्दराचल और अस्ताचल पर्वत जलकर टूक-टूक हो गये हैं। पृथ्वी जर्जर हो गई है। स्थावर-जङ्गम जीव हाहाकार कर रहे हैं। बिजली चमकती है। तब बड़ा क्षोभ हुआ। हे बधिक! मैं अग्नि में जा पड़ा। मेरा शरीर भी जलने लगा। परन्तु मुझको कुछ कष्ट न हुआ। जैसे किसी पुरुष को अपने स्वप्न में कष्ट प्राप्त हो और जब जाग उठे तो कुछ कष्ट नहीं होता, वैसे ही अग्नि का कष्ट मुझको कुछ न हुआ। मैं अपने को वही जाग्रत्वाला रूप जानता था। जगत्-प्रलय को भ्रममात्र जानता था। इस कारण मुझको कष्ट न होता था। चेष्टा तो मैं भी उसी प्रकार देखता और करता था,

परन्तु हृदय से ज्यों का त्यों शान्त चित्त था। और लोग अग्नि के क्षोभ से कष्ट पाते थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तरप्रलयाग्निकदाहवर्णनं नाम द्विशताधिकाष्टविंशतितमस्सर्गः ॥ २२८ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! प्रलय के क्षोभ में मैं भी भटकता था और जल में बहता था, परन्तु पूर्व का शरीर मुझको विस्मरण न हुआ, इस कारण शरीर का दुःख मुझको स्पर्श न करता था। मैंने विचारा कि यह जगत् तो मिथ्या है, इसमें बिचरने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? यह तो स्वप्नमात्र है। इसमें मैं किस निमित्त खेद पाऊँ—इससे जगत् से बाहर निकलूँ। बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर! तुमने जो उस स्वप्न में जगत् को देखा, वह जगत् क्या वस्तु था और स्वप्न क्या था? उसकी संवित् में जगत् था और उस जगत् का उसको ज्ञान था या वह प्रमादी था? तुमने तो जाग्रत् होकर उसका स्वप्न देखा था, उसके हृदय में पहाड़ कहाँ से आया और नदियाँ, वृक्ष आदि नाना प्रकार के भूत-जात और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि विश्व की रचना कहाँ से आई? वह सब क्या था? यह मेरा संशय दूर करो। जो तुम कहो कि अपने स्वप्न में तुम भी अपनी सृष्टि देखते हो तो हे भगवन्! हमको जो स्वप्न देख पड़ता है, उसे हम अपने स्वरूप के प्रमाद से देखते हैं। पर तुमने जाग्रत् होकर देखा, तो कैसे देखा? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! प्रथम जो मैंने देखा था, वह अपने को भूलकर उसके हृदय में जगत् देखा था। और दूसरी बार जो देखा, वह अपने को जानकर जगत् देखा था। वह क्या वस्तु है, सुनो। हे बधिक! जो वस्तु कारण से होती है, वह सत्य होती है और जो कारण विना दिखती है, वह मिथ्या होती है। मुझको जो सृष्टि उसके स्वप्न में दिखी थी, वह कारण विना थी, क्योंकि कारण दो प्रकार का होता है—एक निमित्त कारण; जैसे घट का कारण कुम्हार होता है और दूसरा समवाय कारण; जैसे घट मृत्तिका का होता है। जो दोनों प्रकार से उत्पन्न करे, वह कारण कहाता है। पर आत्मा तो दोनों प्रकार से जगत् का कारण

नहीं। वह अद्वैत है, इससे निमित्तकारण नहीं। और समवायकारण भी इसलिए नहीं कि अपने स्वरूप से अन्यथाभाव नहीं हुआ। जैसे मृत्तिका के परिणाम से घट होता है, वैसे ही आत्मा का परिणाम जगत् नहीं है। आत्मा अच्युत है। वह जगत् कारण के विना भासित हुआ था, इससे भ्रममात्र ही था।

हे बधिक! वस्तु वही होती है, तो जगत् की भ्रान्ति आत्मा में भासित हुई, इसलिए जगत् आत्म-रूप हुआ। जब सृष्टि उपजी न थी, तब अद्वैत आत्मसत्ता थी। उसमें संवेदन जगने से जगत् हुए की नाईं उदय हुआ, सो क्या हुआ—जैसे सूर्य की किरणों में जल दिखता है तो वह किरण ही जलरूप प्रतीत होती है, वैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है। आत्मा ही जगद्रूप होकर भासित होता है। वहाँ न कोई शरीर था, न कोई हृदय था। न पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश था और न उत्पत्ति और प्रलय था, न और कोई था। केवल चिन्मात्र-रूप ही था। हे बधिक! ज्ञानदृष्टि से मुझे तो सच्चिदानन्द ही भासित होता है। वह शुद्ध और सब दुःखों से रहित परमानन्द है। जगत् भी वही रूप है। तुम सरीखे को जो जगत् शब्द-अर्थरूप भासित होता है, सो आत्मा में कुछ हुआ नहीं, केवल चिन्मात्र सत्ता है। सर्वदा मुझको आत्मरूप ही भासित होता है। जो तू चाहे कि मुझको भी चिन्मात्र ही भासित हो तो ऐसा समझ कि सब कल्पना मन से त्यागने पर उसके पीछे जो शेष रहेगा, वह आत्मसत्ता है, सबका अनुभवरूप वही है। वह प्रत्यक्ष, शुद्ध, सर्वदा स्वभावसत्ता में स्थित और अमर है। तू भी उस स्वभाव में स्थित हो। हे बधिक! आत्मसत्ता परमसूक्ष्म है, जिसमें आकाश भी स्थूल है। जैसे सूक्ष्म अणु से पर्वत स्थूल होता है, वैसे ही आत्मा से आकाश भी स्थूल है। आत्मा में यही सूक्ष्मता है कि आत्मत्वमात्र है, जिसमें कोई उत्थान नहीं, केवल निर्मल स्वभावसत्ता और निराभास है। उसी में यह जगत् भासित होता है, इससे वही रूप है। जैसे काल में क्षण, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास, वर्ष और युगसंज्ञा जो होती है सो काल ही है, वैसे ही एक ही आत्मा

में अनेक नामरूपवाला जगत् होता है। जैसे एक बीज में पत्ते, टहनी, फूल, फल नाम आदि होतेहैं, वैसे ही एक आत्मा में अनेक नामरूपवाला जगत् होता है। वह आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं, सब आत्मस्वरूप है। जो आत्मा से भिन्न भासित हो, उसे भ्रममात्र जानो। जैसे संकल्प-पुर होता है, वैसे ही यह जगत् है।

हे बधिक! आत्मा में जगत् कुछ बना नहीं। वही आत्मा तेरा अपना अनुभवरूप और परमशुद्ध है। उसमें न जन्म है, न मृत्यु। वह चिदाकाश अपना आप है। वही तेरा अपना अनुभवरूप शुद्धसत्ता है—उसको नमस्कार है। हे बधिक! तू उसमें स्थित हो। तब तेरे दुःख नष्ट हो जावेंगे। यह जगत् अज्ञानी को सत्य लगता है, और ज्ञानवान् को सदा आकाशरूप दिखता है। जैसे एक पुरुष सोया हो और एक जागता हो, तो जो सोया है उसको स्वप्न में महल आदि जगत् दिखता है और जो जागता है, उसको आकाशरूप है, वैसे ही अज्ञानी को जगत् दिखता है और ज्ञानवान् को आत्मरूप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! कुछ लोग कहते हैं कि यह जीव कर्म से होता है और कुछ कहते हैं कि कर्म के विना उत्पन्न होता है। इन दोनों में सत्य क्या है? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! आदि में जो परमात्मा से ब्रह्मादिक उपजे हैं, वे कर्म से नहीं हुए। वे कर्म विना ही उत्पन्न हुए हैं। उन्हें न कहीं जन्म है और न कर्म है। वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं। उनका शरीर भी ज्ञानरूप है। वे और अवस्था को नहीं प्राप्त होते। उनको सर्वदा अधिष्ठान आत्मा में अहंप्रतीति है। हे बधिक! सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मादिक उपजे हैं, वे ब्रह्म से भिन्न नहीं। और जो अनन्त जीव उपजे हैं और जिनका आदि में ही आत्म-पद से प्रकट होना हुआ है, वे भी ब्रह्मरूप हैं। ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं। आदि सबका चेतन ब्रह्म स्वयंभू है। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक को अविद्या ने स्पर्श नहीं किया। वे विद्यारूप हैं। दूसरे जीव अविद्यावश प्रमाद करके परतन्त्र हुए हैं। वे कर्म करके कर्म के वश हुए हैं और संसार में शरीर धारण करते हैं। जब उनको आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, तब वे कर्म के बन्धन से मुक्त होकर आत्मपद को पाते हैं।

हे बधिक ! आदि में जो सृष्टि हुई है, वह कर्म के विना उपजी है। ये जीव पीछे अज्ञान के वश हो कर्म के अनुसार जन्म-मरण देखते हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि आदि में कर्म के विना उत्पन्न होती है और पीछे कर्म से उत्पन्न होती भासित होती है, वैसे ही यह जगत् है। आदि में जीव कर्म के विना उपजे हैं और पीछे कर्म के अनुसार जन्म पाते हैं। ब्रह्मादिक के शरीर शुद्ध ज्ञानरूप हैं। ईश्वर में जीवभाव दिखता है, पर उस काल में भी वह ब्रह्मस्वरूप ही है, क्योंकि उन ईश्वरों के कम कोई नहीं, केवल आत्मा ही उनको दिखता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में द्रष्टा ही दृश्यरूप होता है और नाना प्रकार के कम दिखते हैं, परन्तु और कुछ हुआ नहीं, वैसे ही जो कुछ जगत् दिखता है, सो सब चिन्मात्रस्वरूप है, और कुछ नहीं। सुख-दुःख भी वही भासित होता है, परन्तु अज्ञानी को जब तक जगत् की प्रतीति होती है, तब तक वह कमरूपी फाँसी से बँधा हुआ दुःख पाता है। जब स्वरूप में स्थित होगा, तब कर्म के बन्धन से मुक्त होगा। किन्तु वास्तव में न कोई कर्म है, और न किसी को बन्धन है। यह मिथ्या भ्रम है। केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। दूसरा कुछ हो तो मैं कहूँ कि इस कर्म ने इसको बन्धन किया है। यह जगत् आत्मा में ऐसा है, जैसे जल में तरङ्ग होता है, सो भिन्न कुछ नहीं। जल से तरङ्ग उत्पन्न होता है, सो किस कर्म से होता है और क्या उसका रूप है ? जैसे वह जल रूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी आत्मस्वरूप है—आत्मा से इतर कुछ नहीं। जो कुछ कल्पना कीजिये, वह अविद्यामात्र है।

हे बधिक ! जब तक यह संवित् बहिर्मुख जगती है, तब तक जगत् भासित होता है और कर्म होते दिखते हैं। जब संवित् अन्तर्मुख होगी, तब न कोई जगत् रहेगा और न कोई कर्म देख पड़ेगा। तब सब आत्मसत्ता ही भासित होगी। जैसे मुझको सदा आत्मसत्ता भासित होती है, वैसे ही तुमको भी भासित होगी। हे बधिक ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् आत्मतत्त्व दिखाई देता है, और जो अज्ञानी हैं, उनको प्रमाद से द्वैतरूप भासित होता है। इससे वह पदार्थों को सुख-

रूप जानकर पाने का यत्न करता है, सुख से सुखी और दुःख से द्वेष करता है। पर परमानन्द जो आत्मपद है, उसके पाने का यत्न नहीं करता। ज्ञानवान् सदा परमानन्द में स्थित है। उसको सब जगत् ब्रह्म-स्वरूप दिखता है। हे बधिक! सब जगत् जो तुझको दिखता है, वह चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म है। न कोई स्वप्न है, न कोई जाग्रत् है, न कोई कर्म है और न कोई अविद्या है। सब ब्रह्मस्वरूप सदा अपने आप में स्थित है। उसमें और कुछ नहीं। जैसे जल में आवर्त होता है, परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में जगत् हुए की नाईं भासित होता है, परन्तु ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। तू विचार करके सब जगत् ब्रह्मस्वरूप देख। तब तेरे दुःख मिट जावेंगे। जब तक विचार करके स्वरूप को न पावेगा, तबतक दुःख न मिटेगा। जब स्वरूप को पावेगा, तब सब कर्म नष्ट हो जावेंगे। जितना विचार होता है, उतना ही सुख मिलता है। जहाँ विचार उत्पन्न होता है, वहाँ से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही जहाँ सत्य-असत्य का विचार उत्पन्न होता है, वहाँ अविद्या का अभाव हो जाता है। वह फिर संसारचक्र में नहीं फँसता, बल्कि परमपद को प्राप्त होता है। जिस ज्ञानवान् को यह पद प्राप्त हुआ, वह दुखी नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्मनिर्णयो नाम
द्विशताधिकैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २२९ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जो ज्ञानवान् पुरुष है, वह अवश्य उस परमानन्द को प्राप्त होता है, जिसके पाने से इन्द्रियों का आनन्द सूखे तृण सा तुच्छ प्रतीत होता है। वैसा सुख पृथ्वी, आकाश और पाताल में भी कहीं नहीं मिलता, जैसे सुख ज्ञानवान् को प्राप्त होता है। जिसको ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ है, वह किसकी इच्छा करे? आत्मानन्द तब प्राप्त होता है, जब आत्मज्ञान का अभ्यास होता है। आत्मा शुद्ध और सर्वदा अपने आपमें स्थित है। जो कुछ आगे देख पड़ता है, वह अविद्या का विलास है। जब तू अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब तुझको सब ब्रह्म ही भासित होगा। हे बधिक! पृथ्वी आदि तत्त्व जो देख पड़ते हैं, वे

वास्तव में हैं नहीं। ये जो कुछ होते तो इनका कारण भी कोई होता, पर जब ये ही नहीं हैं, तब इनका कारण किसको कहिये। और जो इनका कारण नहीं तो कार्य किसका कहिये। इसलिए ये भ्रममात्र हैं। विचार करने से जगत् का अभाव हो जाता है और आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों प्रतीत होती है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प दिखता है, पर जब वह भली प्रकार देखता है, तब सर्प का भ्रम मिट जाता है और ज्यों की त्यों रस्सी ही दिखती है, वैसे ही विचार किये से आत्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे आकाश में संकल्प का कल्पवृक्ष अथवा देवता की प्रतिमा रचकर उससे प्रार्थना करो तो अनुभव से कार्य सिद्ध होता है, वैसे ही जितना जगत् तू देखता है सो सब संकल्पमात्र और अनुभवरूप है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि स्वप्नमात्र है, वैसे ही यह सब विश्व ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। आदि में परमात्मा से कर्म के बिना जो सृष्टि उपजी है, वह किञ्चन आभासरूप है। फिर आगे जो ब्रह्मा ने रचा है, वह संकल्परूप है। फिर आगे जीव अज्ञान से कर्म करने लगे। तब उन कर्मों से उत्पत्ति होती देख पड़ी है। जैसे स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र होने पर भी दृढ़ भासती है—जब तक स्वप्न की अवस्था है, तब तक जैसा वहाँ कर्म करेगा, वैसा ही भासित होगा और जब जाग उठे तो न कहीं कर्म है, न जगत् है—वैसे ही यह सब संकल्पमात्र है। ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है।

हे बधिक! ये जो मनुष्य तुझको दिखते हैं, वे जब मनुष्य ही नहीं तो उनके कर्म मैं तुझसे कैसे कहूँ? जैसे स्वप्न के निवृत्त होने पर स्वप्न की सृष्टि का अभाव हो जाता है, वैसे ही अविद्या के निवृत्त होने पर अविद्या की सृष्टि का भी अभाव हो जाता है। आत्मसत्ता अद्वैत है। उसमें जगत कुछ बना नहीं–वही रूप है। जैसे आकाश और शून्यता, अथवा वायु और स्पन्दन में भेद नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। जब चित्तसंवित् जगती है, तब जगत् होकर भासित होती है, और जब नहीं जगती, तब अद्वैत होकर स्थित होती है। पर आत्मसत्ता जगने और न जगने में ज्यों की त्यों है।

जन्म-मरण और बढ़ना-घटना मिथ्या है; क्योंकि दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे किसी ने जल और किसी ने पानी कहा तो दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, वैसे ही आत्मा और जगत् एक ही के नाम हैं, परन्तु अज्ञान से भिन्न-भिन्न लगते हैं। जैसे स्वप्न में कार्य दिखते हैं, परन्तु होते नहीं, वैसे ही जाग्रत् में कारण-कार्य दिखते हैं; परन्तु हैं नहीं—वास्तव में आत्मतत्त्व ही है। उस आत्मा में जो अहं-मम रूप चित्त फुरता है और उस उत्थान से आगे जो कुछ स्फुरण होता है, वही जगत् है। उस जगत् में जैसा-जैसा निश्चय होता है, वैसा ही वैसा भासित होने लगता है—इसका नाम नेति है। उसमें देश, काल और पदार्थ की संज्ञा होने लगती है। और कारण-कार्य जो देख पड़ते हैं सो क्या हैं? केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। कुछ हुआ नहीं, परन्तु हुए की नाईं दिखता है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार का जगत् दिखता है और कारण-कार्य भी दृष्टि देख पड़ता है, परन्तु जागने पर कुछ दृष्टि गत नहीं होता, क्योंकि है ही नहीं, वैसे ही यह जगत् कारण-कार्यरूप दिखता है, परन्तु है नहीं। आत्मा से दिखता है, इसलिए आत्मा ही है। जैसे संकल्प-नगर दिखता है, वैसे ही आत्मा में घन चैतन्य से जगत दिखता है, सो वही रूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसा आत्मा में निश्चय होता है, वैसा ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह सब जगत संकल्पमात्र है; संकल्प ही जहाँ-तहाँ उड़ते फिरते हैं। अनुभवसत्ता ज्यों की त्यों है—संकल्प से ही प्राणी मरकर परलोक देखता है।

बधिक बोला, हे भगवन्! परलोक में जो यह मर कर जाता है तो उस शरीर का कारण कौन होता है और वह मरता और मारता कौन है? यह शरीर तो यहीं रहता है, वहाँ भोक्ता शरीर कौन होता है, जिससे जीव सुख-दुःख भोगता है? जो तुम कहो कि उस शरीर का कारण धर्म-अधर्म होता है तो धर्म-अधर्म तो अमूर्ति है, उससे समूर्ति और साकाररूप क्योंकर उत्पन्न हुआ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! शुद्ध अधिष्ठान जो आत्मसत्ता है, उसके फुरने की अनेक संज्ञा होती हैं—कर्म, आत्मा, जीव फुरना, धर्म, अधर्म आदि नाना प्रकार के उसके नाम हैं। जब शुद्ध चिन्मात्र

में अहं का उत्थान होता है, तब देह की भावना होती है और देह ही भासित होने लगती है। आगे जगत् भासित होता है और स्वरूप के प्रमाद से संकल्परूप जगत् दृढ़ हो जाता है। फिर उसमें जैसा-जैसा फुरता है, वैसा-वसा ही भासित होता है। हे बधिक! यह जगत संकल्प-मात्र है, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से सत्य दिखता है। प्रमाद से शरीर में अभिमान हो गया है, उससे जीव अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानता है। वासना दृढ़ हो जाने से उसके अनुसार परलोक देखता है। हे बधिक! वहाँ न कोई परलोक है और न यह लोक है। जैसे मनुष्य एक स्वप्न को छोड़कर दूसरे स्वप्न को देखे, वैसे ही जीव अवि-दित वासना से इस लोक को त्यागकर परलोक को देखता है। जैसे स्वप्न में निराकार ही साकार शरीर उत्पन्न होता है, वैसे ही परलोक है। पर वास्तव में संकल्प ही पिण्डाकार होकर भासित होता है। जैसी वासना होती है, वैसा ही उसके अनुसार होकर दिखता है। वास्तव में शरीर और पदार्थ सभी आकाशरूप हैं। हे बधिक! असत्य जन्म-मरण सत्य होकर भासित होता है। जैसा-जैसा फुरना होता है, वैसा ही वैसा भासित होता है—जगत् आभासमात्र है।

जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको आत्मभाव ही सत्य है। उसमें जैसा निश्चय होता है, वैसा भान होता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातारूप जगत् जो भासित होता है, वह अनुभव से भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न में जो अनेक पदार्थ दिखते हैं, सो अनुभव ही अनेक रूप होकर भासित होता है और प्रलय में सब एक हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी प्रलय में सब एकरूप हो जाते हैं। जब संवित् जगती है, तब नाना प्रकार का जगत् दिखता है। और जब संवित् लय होती है, तब प्रलय हो जाता है और सब एकरूप हो जाता है। एक चिन्मात्र सत्ता अपने आपमें स्थित है। पृथ्वी आदि पदार्थ उसका चमत्कार हैं, भिन्न वस्तु कुछ नहीं। आत्म-सत्ता निर्विकार है। उसमें निराकार और साकार भी कल्पित है। जो पुरुष दृश्य से मिले चेतन हैं, वे जड़धर्मी हैं। उनको नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं। ज्ञानवान् को सत्यरूप चिन्मात्र ही भासित

होता है। हे बधिक ! यह सब जगत् चिन्मात्र है। जब चित्त संवित् फुरती है, तब स्वप्नरूप जगत् दिखता है और जब चित्तसंवित् स्फुरण से रहित होती है, तब सुषुप्ति होती है। ऐसे ही चित्त संवित् के जगने से सृष्टि होती है और चित्त के स्थिर होने से प्रलय हो जाता है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति आत्मा में कल्पित हैं, वैसे ही आत्मा में कल्पित सृष्टि और प्रलय आभासमात्र है। जगत् कुछ बना नहीं। जगने से जगत् भासित होता है, इससे जगत् भी आत्मरूप है। पञ्चतत्त्व भी आत्मा का नाम है। सदा अद्वैतरूप जगत् आभासमात्र है। जैसे आत्मा में साकार कल्पित है, वैसे ही निराकार भी कल्पित है। जैसे जीव स्वप्न में किसी को साकार और किसी को निराकार जानता है, पर दोनों स्फुरणमात्र हैं। जो फुरने से रहित है, वह आत्मसत्ता है। साकार और निराकार भी वही है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है और निराकार ही साकार होकर भासित होता है।

हे बधिक ! सब जगत् जो तुझको दिखता है, वह चिन्मात्रस्वरूप है, भिन्न कुछ नहीं। परन्तु अज्ञान से नाना प्रकार के कार्य-कारण और जन्म-मरण आदि विकार दिखते हैं। वास्तव में न कोई जन्म है और न मरण। न कोई कार्य है और न कारण। यदि जीव मरता होता तो परलोक भी न देखता और अपने मरने को भी न जानता। जो मरकर परलोक देखता है, वह मरता नहीं। यदि मनुष्य मृतक हो तो पूर्व के संस्कार को न पावे और पूर्वस्मृति उसको न हो। पर तू तो पूर्वसंस्कार से क्रिया में प्रवृत्त होता है। प्रतियोग से तुझे पदार्थों की स्मृति भी हो आती है। फिर कर्मफल भोगता है। लोक में तो पुरुष मृतक नहीं होता, केवल भ्रम से मरण दिखता है और कारण-कार्यरूप पदार्थ दिखते हैं। जब मरकर परलोक देखता है, सुख-दुख भोगता है तो वह शरीर किसी कारण से नहीं बना। जैसे वह शरीर अकारण है, वैसे ही और जो आकार दिखते हैं, वे भी अकारण हैं—इसी से आभासमात्र हैं। जैसे स्वप्न के शरीर से जो नाना प्रकार की क्रियाएँ होती हैं और मनुष्य देश-देशान्तर देखता है, सो सब मिथ्या हैं, वैसे ही यह जगत् मिथ्या है

और मरण भी मिथ्या है। जो तू कहे कि जब इसके आकार का अभाव देखता है तब जानता है कि वह मर गया तो हे बधिक ! जब यह पुरुष परदेश जाता है तब भी इसका आकार नहीं दिखाई पड़ता। जैसे दृष्टि के अभाव में असत्य होता है, वैसे ही देह के त्याग में भी इसका असत्यभाव होता है। पर इस पुरुष का अभाव कभी नहीं होता। जो तू कहे कि परदेश गया फिर आ मिलता है, पर शरीर के त्यागने पर फिर नहीं मिलता तो परदेश गया फिर मिलकर बातचीत करता है और मृतक तो कभी चर्चा नहीं करता, तो जिसके पितर प्रीति से बँधे हुए मरते हैं और जिनकी यथाशास्त्र क्रिया नहीं होती, वे स्वप्न में आ मिलते हैं और बताते हैं कि हमारी क्रिया तुमने नहीं की; हम अमुक स्थान में पड़े हैं या अमुक द्रव्य अमुक स्थान में गड़ा है, तुम निकाल लो। जैसे परदेसी लौटकर मिलते हैं और वार्त्ता-चर्चा करते हैं, वैसे ही मृतक भी करते हैं, यह सिद्ध है। हे बधिक ! वास्तव में न कोई जगत् है और न कोई मरता है, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और जैसा-जैसा उसमें स्फुरण फुरता है, वैसा ही वैसा भासित होता है।

हे बधिक ! अनुभव एक कल्पवृक्ष है; जैसा-जैसा उसमें फुरता है, वैसा ही वैसा भासित होता है। एक संकल्पसिद्ध और एक दृष्टिसिद्ध वस्तु है। जब इनकी दृढ़ भावना होती है, तब ये दोनों सिद्ध होती हैं। जो इन्द्रियों में द्रव पदार्थ हैं, वे दृष्टिसिद्ध वस्तु कहाते हैं। जो इन की भावना होती है तो यही प्राप्त होते हैं। और जो अपने मन में आप ही मान लीजिये कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र (वर्ण) हूँ, अथवा गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी या सन्यासी (आश्रम) हूँ तो यह संकल्प सिद्ध है। जबतक इनका अध्यास होता है, तबतक आत्मसत्ता की प्राप्ति नहीं होती और जब आत्मसत्ता का अध्यास होता है, तब इन दोनों का अभाव हो जाता है और आत्मा ही प्रत्यक्ष अनुभव से दिखता है। हे बधिक ! जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसको यदि भावना करे और थककर उसे छोड़े नहीं तो वह अवश्य प्राप्त होती है। पर अभ्यास अथवा अध्यास के विना कुछ नहीं सिद्ध होता। जैसे कोई

पुरुष कहे कि मैं अमुक देश जाता हूँ तो जबतक उसकी ओर वह चले नहीं, तबतक अनेक उपाय को करने से भी वह देश नहीं प्राप्त होता और जब उसकी ओर चलेगा तब पहुँच जायगा, वैसे ही जब बहुत एकाग्र होकर आत्मा का अभ्यास करेगा, तब उसको आत्मा प्राप्त होगा, अन्यथा आत्मपद को वह न पहुँचेगा। हे बधिक! जिस पुरुष को जगत् के पदार्थों की इच्छा हो, उसको आत्मपद नहीं प्राप्त होता। जिसको आत्मपद की इच्छा है, उसको वही प्राप्त होगा; जगत् के पदार्थ न भासित होंगे। यदि ऐसी भावना हो कि मेरी देवता की सी मूर्ति हो और उससे मैं स्वर्ग में विचरूँ और एक रूप से भूलोक में मृग होकर भ्रमण करूँ तो दृढ़ अभ्यास से वही हो जाता है; क्योंकि जगत् संकल्प-मात्र है। जैसा-जैसा निश्चय होता है, वैसा ही भासित होता है। हे बधिक! दो रूप की क्या बात है, जो सहस्रमूर्ति की भावना करे तो वही तद्रूप हो जायगा। यह मनुष्य जैसी भावना करता है, वैसा ही हो जाता है। यह अविद्याकृत जगत् भ्रममात्र है इसकी भावना त्यागकर आत्मपद का अभ्यास कर, तब तेरे दुःख मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशवोपाख्याने निर्णयोपदेशो नाम द्विशताधिकत्रिंशत्तमस्सर्गः॥ २३०॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जैसे अगाध समुद्र में अनेक तरङ्ग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में अनेक सृष्टियाँ फुरती हैं। जीव जीव की अपनी अपनी सृष्टि है, परन्तु परस्पर एक दूसरे को अज्ञात है, एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। जैसे एक ही स्थान में दो पुरुष सोये हों तो उनको अपने-अपने स्वप्न की सृष्टि दिखती है, पर एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता, परस्पर दोनों अज्ञात होते हैं, वैसे ही सब सृष्टि आत्मा में फुरती है; परन्तु एक की सृष्टि को दूसरा जीव नहीं जानता। जो धारणाभ्यासी योगी है, उसको अन्तवाहक शरीर प्रत्यक्ष होता है, और वह दूसरे की सृष्टि को भी जानता है। जैसे एक तालाब का मेढक होता है, एक कूप का मेढक होता है और एक समुद्र का मेढक होता है। सो इनके स्थान तो भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु जल एक ही है।

इससे चाहे जैसा मेढक हो, पर उसको जल जानता है कि मुझमें हैं, वैसे जगत् भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में है, परन्तु आत्मसत्ता के आश्रित ह। आदि जो संवेदन उसमें जगा है, वह अन्तवाहक है। जब अन्त-वाहक में योगी स्थित होता है, तब और के अन्तवाहक को भी जानता ह। इस प्रकार आत्मा के आश्रय से अन्तवाहक में अनन्त सृष्टि फुरती हैं। वे आत्मा का किञ्चन हैं, फुरती भी हैं और मिट भी जाती हैं। संवेदन के जगने से सृष्टि उत्पन्न होती है और संवेदन के ठहरने से मिट जाती है, क्योंकि वह आकाशरूप होती है। जैसे वायु के ठहरने से जल एक रूप हो जाता है और जल के सिवा कुछ नहीं दिखता, वैसे ही संवेदन के फुरने से आत्मा में अनन्त सृष्टि भासित होती है, और संवेदन के ठहरने से सब आत्मरूप हो जाती है। तब आत्मा के सिवा कुछ नहीं भासित होता, क्योंकि उससे इतर प्रमाद से दिखता है और फिर कारण-कार्य भ्रम भासित होता है। प्रथम जो सृष्टि उपजी है, वह कारण-कार्य के क्रम और संस्कार से रहित है। पीछे कारण-कार्य क्रम भासित हुआ। फिर उसका संस्कार हृदय में हुआ। तब संस्कारवश वें भासित होने लगीं। जिनको स्वरूप का प्रमाद नहीं हुआ, उनको सदा परब्रह्म का निश्चय रहता है और जगत् अपना संकल्पमात्र भासित होता है। और जिनको स्वरूप का प्रमाद होता है, उनको संस्कारपूर्वक जगत् भासित होता है। पर संस्कार भी कुछ वस्तु नहीं।

हे बधिक ! जब जगत् ही मिथ्या है, तब उसका संस्कार कैसे सत्य हो ? परन्तु ज्ञानवान् को इस प्रकार दिखता है और अज्ञानी को स्पष्ट दिखता है। हे बधिक ! जैसे तुम संकल्प के रचे पदार्थ—स्मृति और स्वप्नसृष्टि को असत् जानते हो, वैसे ही मैं इस जाग्रत्सृष्टि को असत् जानता हूँ। जैसे मृगतृष्णा का जल असत् दिखता है, वैसे ही मुझको यह जगत् असत्य है। तो फिर कारण, कार्य, कम-संस्कार मुझको कैसे भासित हो ? अज्ञानी को तीनों दिखते हैं। हे बधिक ! जब चित्त-संवित् बहिर्मुख होती है, तब जगत् दिखता है और जब अन्तर्मुख होती है, तब अपने स्वरूप को देखती है। जब आत्मतत्त्व का किञ्चन

संवेदन फुरता है, तब स्वप्न जगत् होकर भासता है; और जब ठहर जाती है, तब सुषुप्ति-प्रलय हो जाता है। फुरने का नाम सृष्टि की उत्पत्ति और ठहरने का नाम प्रलय है। जिसके आश्रय से सृष्टि का स्फुरण होता है वह शुद्धसत्ता अव्यक्त और निराकार है—वही आकार होकर भासती है। और जो अकारण निराकार है, उसमें अकारण आकार भासित होता है, इससे जानता है कि वही रूप है और कुछ नहीं। आकार भी निराकार है; दृष्टि ही सृष्टिरूप होकर दिखती है। यह जगत् आभासमात्र है। जैसे समुद्र का आभास तरङ्ग होते हैं, वैसे ही आत्मा का आभास यह जगत् है। आत्मानन्द चिदाकाश और सब जगत् का अपना रूप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! तुम जगत् को अकारण कहते हो तो कारण के विना यह कैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष दिखता है। और जो कारण से उत्पत्ति कहो तो इसे स्वप्न सा क्यों कहते हो? स्वप्नसृष्टि तो कारण विना होती है। इससे यह कहो कि यह सृष्टि कारणसहित है अथवा कारण से रहित अकारण है।

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह जगत् आदि में अकारण और आत्मा का आभासमात्र है। आत्मा में इसका अत्यन्ताभाव है। और कुछ पदार्थ बने नहीं। आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। इसलिए चिदाकाश चिन्मात्र है और उसका किञ्चन चेतनता है। जैसे सूर्य की किरणों का आभास जल दिखता है, परन्तु मिथ्या है, वैसे ही आत्मा का किञ्चन चेतन है। वह किञ्चन संवेदन अहंभाव को लेकर जगता गया है और जैसे-जैसे जगता है वैसा ही वैसा जगत् होकर भासित होता है। जो-जो उसमें निश्चय किया है कि यह कर्तव्य है, इसके करने से पाप है, यह करना है, यह नहीं करना है और देश, काल, क्रिया क्रम है, सो यह इसी प्रकार है। यह ऋषि है, यह देवता है, यह मनुष्य है, यह द्वैत है, यह धर्म है, यह कर्म है। इससे इनका बन्धन है; इससे इनका मोक्ष है। हे बधिक! जो आदि नीति रची है। वह वैसी ही अब तक स्थित है, अन्यथा नहीं होती—उसी में कारण-कार्य क्रम है। प्रथम जो सृष्टि उपजी है, वह बुद्धिपूर्वक नहीं बनी—आकाशमात्र

उपजी है और जैसे उपजी है वैसे ही स्थित है फिर पदार्थ जो एक भाव को त्यागकर और भाव को अङ्गीकार करते हैं, सो कारण से करते हैं। कारण विना नहीं होते। क्योंकि प्रथम सृष्टि अकारण हुई है और पीछे से सृष्टिकाल में कारण-कार्य हुए हैं। परन्तु हे बधिक! जिन पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, उनको यह जगत् कारण के विना ब्रह्मस्वरूप भासित होता है और जिनको आत्मसत्ता का प्रमाद है, उनको कार्य-कारण सत्य भासित होता है। परन्तु आत्मा ब्रह्म निराकार अकारण है। उसमें संवेदन के फुरने से अब्रह्मता भासित होती है; निराकार में आकार भासित होता है और अकारण में कारण भासित होता है। जब संवेदन, जो मन का जगना है, वह स्थिर हो जाता है, तब सब जगत् कारण-कार्य सहित दिखता है। पर प्रथम अकारण उपजा है, पीछे से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पदार्थों की मर्यादा हुई है, और बन्धन व मोक्ष की नीति हुई है। वह ज्यों की त्यों है, जैसे जल शीतल ही है और अग्नि उष्ण ही है। जब जीव आत्मसत्ता में जागता है, तब कारण-कार्य सहित जगत् नहीं दिखता।

स्वप्नसृष्टि प्रथम अकारण भासित होती है और जब दृढ़ हो जाती है, तब कारण से कार्य होता है, वह दृढ़ हो जाता है, जैसे मृत्तिका बिना घट नहीं बनता, पर जाग उठने से सब जगत् आत्मरूप हो जाता है। हे बधिक! यह जगत् संवेदन में स्थित है। जब तक अहं-भाव जगता है, तब तक जगत् है और जब अहंभाव मिटता है तब सब जगत् शून्य आकाश सा हो जाता है। जब तक अहं जगता है, तब तक नाना प्रकार का जगत् दिखता है और जैसी भावना होती है वैसा दिखता है। सब पदार्थ सर्वदा अपनी-अपनी शक्ति में और जैसे आदि नीति हुई है, वैसे ही स्थित हैं। जो जीव जैसी क्रिया का अभ्यास करेगा, उसका वैसा फल पावेगा। जो बन्धन के निमित्त अभ्यास करेगा वह बन्धन पावेगा और जो मोक्ष के निमित्त अभ्यास करेगा वह मोक्ष पावेगा—ऐसी ही आदि नीति हुई है। हे बधिक! इस प्रकार किञ्चन होकर मिट जाता है। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जगत् की

उत्पत्ति और प्रलय ऐसे हैं, जैसे हाथी अपनी सूँड़ को फैलावे और खींचे। ऐसे ही चित्तसंवेदन के फुरने से जगत् की उत्पत्ति होती है और निस्पन्द में प्रलय हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कार्यकारणाकारणनिर्णयो नाम द्विशताधिकैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३१ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह सम्पूर्ण जगत् चित्अणु के ओज में है और उस सम्बन्ध के अभ्यास से आत्मा चित्अणु की संज्ञा पाता है। ओज, अन्तःकरण और हृदय, तीनों अभिन्न हैं। चैतन्यसत्ता उसमें स्थित है, जो बाह्यदृष्टि से मृतकवत् है, और उनमें जीवितरूप है और वहाँ बड़े प्रकाश से प्रकाशित होती है। उस सत्ता का पहले चित्त से संयोग हुआ है। फिर चित्त और प्राणकला का संयोग हुआ है। हे बधिक ! जब प्राण क्षोभ को प्राप्त होते हैं, तब चित्त खेद को प्राप्त होता है और जब चित्त को खेद होता है, तब प्राण भी खेद को प्राप्त होते हैं। जब प्राण स्थित होते हैं, तब जीव शान्ति पाता है। जो प्राण स्थित नहीं होते तो जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था भिन्न-भिन्न होती हैं। हे बधिक ! जब यह पुरुष अन्न भोजन करता है, तब वह अन्न जाग्रतवाली नाड़ी पर स्थित होता है। तब वह नाड़ी रुक जाती है। उससे सुषुप्ति आती है। जिन नाड़ियों में गई हुई चित्त की वृत्ति जाग्रत् जगत् को देखती है, वे जाग्रत् नाड़ी कहाती हैं। उन पर अन्न जाकर स्थित होता है। चित्त-सत्ता चित्त में प्रतिबिम्बित है। वह चित्तनाड़ी उसके तले आ जाती है, तब प्राणवायु भी उस नाड़ी में ठहर जाता है। जब चित्त का स्पन्दन भी ठहर जाता है, तब सुषुप्ति होती है। जो पित्त बहुत होता है तो सूर्य, अग्नि आदि उष्ण पदार्थ स्वप्न में दिखते हैं। जब वह अन्न पचता है और उन नाड़ियों में प्राण जाते हैं, तब स्वप्न अवस्था आती है। जब जल के सोखने को वायु बहता है, तब जीव स्वप्न में उड़ता है। जब कफ बहुत होता है, तब जल को देखता है, नदियाँ, तालाब आदि देखता है और जाकर उनमें डूबता है। जब उष्ण नाड़ी में अन्न-जल पहुँचता

है, तब जाग्रत् अवस्था होती है। इसी प्रकार जीव तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जगत् न भीतर है और न बाहर, केवल अद्वैतसत्ता ज्यों की त्यों है। उसके प्रमाद से चित्त की वृत्ति जब बहिर्मुख जगती है, तब जीव जगत् को जाग्रत् देखता है। जब बाहर की इन्द्रियों को त्यागकर भीतर आती हैं तब भीतर स्वप्न-जगत् देखता है। और जब अपने स्वभाव में स्थित होती है, तब और कल्पना मिट जाती है, सब ब्रह्म ही भासित होता है। इससे सब कल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिविचारो नाम द्विशताधिकद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः॥ २३२॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! ये तीनों अवस्था आती और जाती हैं। इनका अनुभव करनेवाली जो सत्ता है, वह आत्मसत्ता है। वह सदा एक रस है। जिस पुरुष को अपने स्वरूप का अनुभव हुआ है, उसको अपना किञ्चन भासित होता है और जिसको प्रमाद है, उसको जगत् दिखता है। यह जगत् चित्त की कल्पना है। जिसको स्वरूप का प्रमाद है, उसको जगत् दिखता है। जब इन्द्रियाँ विषयों के सम्मुख होती हैं, तब जगत् देखती हैं, और उस संकल्प-जगत् को देखकर राग-द्वेषयुक्त होती हैं। फिर इन्द्रियों के विषय पाकर जीव हर्ष-शोक पाता है। हे बधिक ! जिस चित्अणु का इन्द्रियों से सम्बन्ध है, उसको संसार का अभाव नहीं होता। जीव नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और श्रोत्र इन्द्रियों से देखता, स्पर्श करता, रस लेता, सूँघता, सुनता और मानता है। तब संसारी होकर दुःख पाता है। जब इनके विषयों को त्यागकर अपने स्वभाव की ओर आता है, तब सब जगत् को आत्मरूप जानकर सुखी होता है। हे बधिक ! चित्त के फुरने का नाम जगत् है और चित्त के स्थिर होने का नाम ब्रह्म है—जगत् और कुछ वस्तु नहीं, इसी का आभास है। चित्त के आश्रित सब नाड़ी हैं। उनमें स्थित होकर जीव तीनों अवस्थाएँ देखता है, पर वास्तव में जीव चिदाकाश आत्मा है—अज्ञान से जीवसंज्ञा पाई है।

हे बधिक ! ओज धातु जो हृदय है, उसमें चित्अणु स्थित होकर दीपक की ज्योतिसा प्रकाशता है। उसी के ओज के आश्रित सब नाड़ी हैं। वे अपने-अपने रस को ग्रहण करती हैं। जब प्राणी भोजन करता है और अन्न जाग्रत् नाड़ी में पूर्ण होता है, तब जाग्रत् का अभाव हो जाता है और चित्त की वृत्ति और प्राण आने-जाने से रहित हो जाते हैं—वह नाड़ी मुँद जाती है। फिर जब कफनाड़ी में प्राण जगते हैं, तब स्वप्न दिखता है। हे बधिक ! जब इन्द्रियों को ग्रहण करके चित्त की वृत्ति बाहर निकलती है, तब जाग्रत् जगत् होकर भासित होता है। जब तन्मात्रा को लेकर चित्त की वृत्ति ओज धातु में फुरती है, तब स्वप्न आता है। जब ओज धातु पर अन्न आदि पदार्थ का बोझ पड़ता है, तब सुषुप्ति होती है। जब निद्रा और जाग्रत् का जोर होता है, तब दोनों दिखते हैं, और जब दोनों में से एक का बल अधिक होता है, तब वही जाग्रत् अथवा सुषुप्ति भासित होती है। जब निद्रा से रहित मन्द संकल्प होता है, तब उसको मनोराज्य कहते हैं और जब बाह्य विषयों को त्यागकर चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है, तब स्वप्न होता है। वहाँ जिस सिद्धान्त में जाता है, उसके अनुसार भीतर जगत् दिखता है। कफ के बल से चन्द्रमा, क्षीरसमुद्र, नदियाँ, जल से पूर्ण तालाब और वृक्ष, फूल, फल, बागीचे, सुन्दर वन, हिमालय, कल्पवृक्ष, तमाल, सुन्दर स्त्रियाँ, बेलें, बावलियाँ इत्यादि सुन्दर और शीतल स्थान देखता है। जब पित्त का बल अधिक होता है, तब सूर्य, अग्नि और सूखे वृक्ष, फल और टास देखता है; सन्ध्याकाल के मेघ की लाली देखता है; बन और दूसरे स्थानों में अग्नि लगी देखता है और पृथ्वी, तपी हुई रेती और मरुस्थल की नदी दिखती हैं; जल उष्ण लगता है; हिमालय का शिखर भी उष्ण लगता है और नाना उष्ण पदार्थ दिखते हैं। जब वायु का बल अधिक होता है, तब स्वप्न में अधिक वायु देखता है। पाषाण की वर्षा होती दिखती है; अपने को अन्धे कूप में गिरता देखता है। हाथी-घोड़े उड़ते दिखते हैं। मनुष्य अपने को उड़ता फिरता देखता है; अप्सरा के पीछे दौड़ता है। पहाड़ों की वर्षा होती है,

वायु तीक्ष्णवेग से चलती और अन्न आदि पदार्थ चलते दिखते हैं और विपरीत होकर भासित होते हैं।

इस प्रकार जीव वात, पित्त और कफ से स्वप्न में जगत् देखता है और जिसका बल विशेष होता है, वह उस धर्म में देख पड़ता है। वासना के अनुसार जीव न्यूनाधिक राजस, तामस और सात्त्विक पदार्थ देखता है। और जब तीनों इकट्ठे होकर कुपित होते हैं, तब प्रलयकाल देख पड़ता है। हे बधिक! जब तक वात, पित्त और कफ के अंश के साथ मिली हुई पुर्यष्टका कफ के स्थान में प्रवेश करती है, तब तक समान जल के क्षोभ दिखते हैं। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ जिसके स्थान में जाता है और अन्य के स्वभाव को लेता है, उसको तब तक समान क्षोभ भासित होता है। जब केवल वात का क्षोभ होता है, तब महाप्रलय, काल के पवन चलते और पहाड़ पर पहाड़ गिरते और भूकम्प आदि क्षोभ होते दिखते हैं। जब कफ का क्षोभ होता है, तब समुद्र उमड़ते हैं। पित्त से अग्नि लगती है, और महाप्रलय की नाईं तत्त्व क्षोभ को प्राप्त होते हैं। जब प्राण जाग्रत् नाड़ी में जाते हैं और वह अन्न से पूर्ण होती है, तब संवित् उसके नीचे आ जाती है। जैसे भीत के नीचे मेढक आवे; पत्थर की शिला में कीड़ा आ जावे और काठ की पुतली काठ में हो—जैसे इनमें अवकाश नहीं रहता, वैसे ही और नाड़ी में फुरने का अवकाश नहीं रहता, रुक जाती है। तब इसको सुषुप्ति होती है।

जब कुछ अन्न पचता है, तब चित्तसंवित् अपने भीतर स्वप्न देखती है। जिसको जिसका विकार विशेष होता है, वह उसी का कार्य देखता है। जब अन्न और जल पचता है, तब जीव फिर जाग्रत् जगत् देखता है, और जब जाग्रत् और स्वप्न, दोनों का बल सम होता है, तब दोनों को देखता और अनुभव करता है। हे बधिक! इसी प्रकार तीनों अवस्था होती और मिट जाती हैं, सो तीनों गुणों से होती हैं। इनका द्रष्टा इनका अनुभव करनेवाला है। वह माया के गुणों से अतीत और सबका आत्मा है। यह जगत् और स्वप्न-जगत् संकल्पमात्र है, कुछ बना नहीं। ब्रह्मसत्ता ही किञ्चन करके जगतरूप होकर भासित होती

है। परन्तु अज्ञानी उसको जगत् जानते हैं, और जगत् को सत्य जानकर इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष करते हैं। जब बाहर की इन्द्रियाँ सुषुप्त हो जाती हैं, तब जीव भीतर स्वप्न में भटकता है और उसमें सूर्य, चन्द्रमा, वन, फूल, फल, वृक्ष आदि जगत् देखता है। परन्तु जब स्वरूप का अनुभव होता है, तब सब भटकना मिट जाता है और शान्ति मिलती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम द्विशताधिकत्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३३ ॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर! उस पुरुष के हृदय में तुमने जगत् और प्रलय देखा था। उसके बाद क्या किया और क्या अवस्था देखी? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! उसके चित्तस्पन्दन में मैंने देखा कि बड़े-बड़े पहाड़ प्रलय की वायु से सूखे तृण की नाईं उड़ते हैं और पत्थरों की वर्षा होती है। इस प्रकार मैंने प्रलय के क्षोभ को देखा। मेरे देखते-देखते जाग्रत्वाली नाड़ी में अन्न स्थित हुआ तो वहाँ जो अन्न के दाने गिरे वे पर्वत जैसे दिखे। चित्तस्पन्दन जो संवित् थी, वह रोकी गई। उसमें स्थित मैं तामस नरक में जा पड़ा—जैसे वहाँ मैं भी जड़ हो गया और मुझको कुछ ज्ञान न रहा। जब कुछ अन्न पचा और कुछ अवकाश हुआ, तब प्राण का स्पन्दन जगा और जैसे निस्पन्द हुई वायु स्पन्दित होकर चले, वैसे ही वहाँ संवित् फुरी, तब सुषुप्ति दृश्य होकर भासित होने लगी—मानो आत्मा द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर भासित होने लगा। परन्तु और कुछ नहीं बना। जैसे अग्नि और उष्णता, जल और द्रवता और मिरच और तीक्ष्णता में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और दृश्य में कुछ भेद नहीं। हे बधिक! इस प्रकार मैंने जगत् को देखा और सुषुप्ति से जाग्रत् दृश्य उपजा भासित हुआ और मुझको दृष्टि आई—जैसे कुमारी कन्या से सन्तान उपजे। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! जो सुषुप्ति आत्मा में दृश्य उपजी, वह सुषुप्ति क्या है? जिसमें तुम दब गये थे, वही क्या सुषुप्ति है, जिससे जगत् उपजता है? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जहाँ सब सम्बन्धों का अभाव है, केवल

आत्मसत्ता से भिन्न कुछ कहना नहीं बनता, उसका नाम सुषुप्ति है। और उसमें जो स्फुरण हुआ, उसके तीन पर्याय हैं, वे सब सन्मात्र में हैं। जो वस्तु देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है, वह सन्मात्र है। उस सन्मात्र में और कुछ बना नहीं; उसके जो पर्याय हैं, वे ही रूप हैं। वही सत्य वस्तु अपने आपमें विराजती है और कदापि अन्यथाभाव को नहीं प्राप्त होती। किञ्चन में भी वही रूप है और अकिञ्चन में भी वही रूप है।

आत्मा का ही नाम सुषुप्ति है और उसी से सब जगत् होता है। जिस सत्ता का नाम सुषुप्ति है, वही स्वप्नदृश्य होकर भासती है— उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे वायु निस्पन्द व स्पन्दन में वही रूप है, वैसे ही आत्मा दोनों अवस्थाओं में एक ही है। हे बधिक ! हम सरीखों की बुद्धि में और कुछ नहीं बना, आत्मा ही सदा ज्यों का त्यों स्थित है। शरीर के आदि में भी और अन्त में भी वही रूप है। उसमें जो किञ्चन द्वारा भासित हुआ है, वह भी वही रूप है। सुषुप्ति अवस्था में मुझको अद्वैत का अनुभव होता है और कहीं फुरना नहीं होता। उसमें जो स्वप्न और जाग्रत् भासित होती है, वह भी वही रूप है और जिसमें फुरती और जिसमें भासती है, उससे भिन्न कुछ नहीं। इससे यह जगत् आत्मा का किञ्चन आत्मरूप है। जब तू जागकर देखेगा, तब तुझको आत्मरूप ही दिखेगा। जैसे स्वप्नपुर और संकल्पनगर का जो अनुभव होता है, वह आकाशरूप है, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है, और शक्ति भी वही है। सर्वशक्ति आत्मा निष्किञ्चन और किञ्चन भी है। शून्य भी वही है, जो वाणी से कहा नहीं जाता। उस अवस्था में ज्ञानी स्थित है। हे बधिक ! ज्ञानवान् को प्रत्यक्ष करके अनुभवरूप ही दिखता है। जैसे स्वप्न में जीव और ईश्वर भिन्न--भिन्न दिखते हैं और उपाधि से अनुभवभेद भासित होता है—वास्तव में कुछ भेद नहीं, वैसे ही जाग्रत् में अज्ञान उपाधि से भेद दिखता है, पर स्वरूप से आत्मा एकरूप है और जब अज्ञान निवृत्त होता है, तब सब आत्मरूप ही दिखता है।

हे बधिक ! सब जगत् अपना स्वरूप है, परन्तु अज्ञान से भेद होता

है। जब आपको जाने, तब द्वैत भेद भी मिट जावे। जैसे किसी पुरुष ने अपनी भुजा पर सिंह की मूर्ति लिखी हो और उसके भय से दौड़ता फिरे और कष्ट पावे तो वह प्रमाद से भयभीत होता है, क्योंकि वह तो अपना ही अङ्ग है। अपने अङ्ग के जानने से भय मिट जाता है। वैसे ही स्वरूप के ज्ञान से जगत्-भय मिट जाता है। जैसे स्वप्न में अज्ञान से नानात्व भासित होता है, पर बना कुछ नहीं, वैसे ही जाग्रत् में नानात्व भासित होता है, परन्तु बना कुछ नहीं। जब मनुष्य अन्तर्मुख होता है, तब बोध की दृढ़ता हो जाती है। जसे प्रातःकाल को ज्यों-ज्यों सूर्य की किरणें प्रकट होती हैं, त्यों-त्यों सूर्यमुखी कमल खिलते हैं, वैसे ही ज्यों-ज्यों मनुष्य अन्तर्मुख होता है, त्यों-त्यों बोध खिलता है। विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से बुद्धि अन्तर्मुख होकर आत्मपद की प्राप्ति होती है। तब आत्मा सर्वत्र एकरस दिखता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकचतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३४ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! तब मैंने उसकी सुषुप्ति से जागकर जगत् को देखा—जैसे कोई पुरुष समुद्र से निकल आवे, जैसे संकल्प सृष्टि प्रकट हो, जैसे आकाश में बादल उठते हैं और वृक्ष से फल निकल आते हैं, वैसे ही उसकी सुषुप्ति से सृष्टि निकल आई—मानो आकाश से उड़ आई वा मानो कल्पवृक्ष से चिन्तामणि निकल आई। जैसे शरीर के रोम खड़े हो आते हैं, जैसे गन्धर्वनगर प्रकट होता है, अथवा जैसे पृथ्वी से अंकुर निकल आता है, वैसे ही सृष्टि प्रकट हुई जैसे भीत पर पुतलियाँ लिखी हों और जैसे खंभे में पुतलियाँ हों, वैसे ही मैंने सृष्टि को देखा। जैसे खम्भे में पुतलियाँ निकली नहीं, परन्तु शिल्पी कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी, वैसे ही अनहोती सृष्टि आत्मरूपी स्तंभ से निकल आती है। आत्मरूपी मिट्टी से पदार्थरूपी पात्र निकलते हैं, परन्तु यह आश्चर्य है कि आकाश में चित्र होते हैं, और निराकर चैतन्य आकाश में मनुष्य

पुतलियों की कल्पना करता है। हे बधिक! जैसे आकाश में मकड़ी के समूह निकल आते हैं, वैसे ही शून्याकाश से सृष्टि निकलकर उस पुरुष के हृदय में मुझको स्पष्ट दिखने लगी।

देश, काल, क्रिया और द्रव्य से अकस्मात् सत्यासत्य पदार्थ दिखने लगते हैं और असत्य पदार्थ सत्य भासित होते हैं। जैसे मणि-मंत्र औषध-द्रव्य के बल से असत्य पदार्थ सत्य भासित होने लगते हैं, और सत्य पदार्थ असत्य लगते हैं, वैसे ही अभ्यास के बल से मुझको उस पुरुष के हृदय में सृष्टि दिखने लगी। हे बधिक! जैसा निश्चय संवित् में दृढ़ होता है, वैसे ही रूप होकर भासित होता है, वास्तव में न कोई पदार्थ है, न भीतर है, न बाहर है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। यह सब सृष्टि इसके भीतर ही स्थित है। जीव प्रमाददोष से उसे बाहर से उत्पन्न होते देखता है। जैसे स्वप्न में सब पदार्थ अपने भीतर-बाहर होते दिखते हैं, वैसे ही ये पदार्थ अपने भीतर से बाहर निकलते भासित होते हैं। हे बधिक! यह जगत् जो आकारसंयुक्त दिखता है, सो सब निराकार है, कुछ बना नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अज्ञान से जगत्रूप दिखती है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् सत्य-असत्य कुछ नहीं भासित होता, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने रूप में स्थित दीखती है। और जो अज्ञानी हैं, उनको भिन्न-भिन्न नाम रूप भासित होते हैं। जब चित्त की वृत्ति बाह्य फुरती है, उसको जाग्रत् कहते हैं। जब अन्तर में फुरती है, तब उसको स्वप्न कहते हैं। और जब स्थिर होती है, तब उसको सुषुप्ति कहते हैं। तो एक ही चित्तवृत्ति के तीन पर्याय हुए, कुछ वास्तव में नहीं। जगत् के आदि में शुद्ध केवल आत्मसत्ता थी। उसमें जब चित्तसंवित् जगी, तब जगत् रूप दिखने लगी। किसी कारण से जगत् नहीं उपजा। जिसका कारण कोई नहीं, उसको असत्य जानिये—वास्तव में कुछ बना नहीं, सब जगत् शान्तरूप ब्रह्म ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकपञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३५ ॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर! प्रलय के बाद तुमको क्या अनुभव

हुआ था ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! तब मुझको उसके भीतर सृष्टि उपजती देख पड़ी। अपने पुत्र, कलत्र, स्त्री आदि सम्पूर्ण कुटुम्ब देख पड़ा। उनको देखकर मुझमें ममता जगी और पूर्व स्मृति भूल गई। अपनी षोड़शवर्ष की आयु दिखी। मैं गृहस्थाश्रम में स्थित हुआ। तब राग-द्वेषसहित मुझको जीव के धर्म फुर आये, क्योंकि मुझको दृढ़ बोध न हुआ था। हे बधिक ! जब दृढ़बोध होता है, तब राग-द्वेषादिक जीव-धर्म चला नहीं सकते और संसार को सत्य जानकर कोई वासना नहीं होती, इसी कारण जीव चलायमान नहीं होता। जिसको बोध की दृढ़ता नहीं हुई, उसको जगत् की वासना खींच ले जाती है। हे बधिक ! अब मुझको दृढ़बोध हुआ है। इस वासना को तरना महा-कठिन है। यह पिशाचिनी महाबली है। चिरकाल से दृश्य का अभ्यास होने के कारण यह चला ले जाती है। जब सत्शास्त्र का विचार और सन्तों का संग जीव को प्राप्त होता है और अभ्यास दृढ़ होता है, तब दृश्य का सद्भाव निवृत्त हो जाता है। जब तक यह मोक्ष का उपाय नहीं प्राप्त होता, तब तक यह भ्रम दृढ़ रहता है। जब सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से यह विचार उपजता है कि 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है' और इसको विचारकर आत्मपद का दृढ़ अभ्यास होता है, तब दृश्यभ्रम मिट जाता है, क्योंकि असम्यक्ज्ञान से जगत् सत् भासित हुआ है। जब सम्यक्ज्ञान हुआ, तब जगत् का सद्भाव कैसे रहे ? जैसे आकाश में नीलता, बाजीगर की बाज़ी और रस्सी में सर्प भ्रम से दिखते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से भासित होता है। जब प्राणी अपने स्वरूप में जागता है, तब जगतभ्रम मिट जाता है, पर जब तक जीव स्वरूप में नहीं जागता, तब तक जगतभ्रम नहीं मिटता।

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! यह तुम सत्य कहते हो कि जगत्भ्रम मिटना कठिन है। मैं तुम्हारे मुख से बारम्बार सुनता हूँ और विचारता हूँ, मुझको पद-पदार्थ का ज्ञान भी दृढ़ हो गया है ! परन्तु संसारभ्रम नष्ट नहीं होता। यह मैं जानता और सुनता हूँ कि सन्तों के संग और

सत्शास्त्रों के विचार विना शान्ति नहीं होती, पर यह संशय मुझको होता है कि तुम जाग्रत् जगत् को स्वप्नवत् कैसे कहते हो ? कई पदार्थ सत्य लगते हैं और कई असत्य लगते हैं। मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! यह सब जगत् पृथ्वी आदिक पदार्थ सत्य दिखते हैं और शश के सींग आदि असत्य दिखते हैं, सो सब मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न में जो सत्य-असत्य पदार्थ दिखते हैं, सो सब असत्य हैं, वैसे ही यह जगत् असत्य है, पर उसमें अल्प और चिरकाल की प्रतीति का भेद है। जाग्रत् चिर-काल की प्रतीति है, उसमें पदार्थ सत्य भासते हैं और स्वप्न अल्पकाल की प्रतीति है। इससे स्वप्न के पदार्थ असत्य दिखते हैं। परन्तु दोनों भ्रम-रूप और असत्य हैं, इस कारण मैं तुल्य कहता हूँ। असत्य पदार्थ ही भ्रम से सत्य की नाईं दिखते हैं। यह सब जगत् स्वप्नमात्र है। उसमें सत्य और असत्य किसे कहूँ। जैसे स्वप्न में कई पदार्थ सत्य और कई असत्य भासित होते हैं, पर सभी असत्य हैं, वैसे ही जाग्रत् में कई पदार्थ सत्य और कई असत्य भासित होते हैं, परन्तु दोनों भ्रममात्र हैं, इसी से असत्य हैं। हे बधिक ! प्रतीति का भेद है, पदार्थों में कुछ भेद नहीं। जिसमें प्रतीति दृढ़ हो रही है, उसको सत्य कहते हैं, और जिसमें प्रतीति दृढ़ नहीं, उसको असत्य कहते हैं। एक ऐसे पदार्थ हैं कि स्वप्न में उनकी भावना दृढ़ हो गई है। वे जाग्रत् में भी प्रत्यक्ष दिखते हैं। मनोराज्य की दृढ़ता जो जाग्रत्‌रूप हो जाती है, वह भावना ही की दृढ़ता है, और भेद नहीं। जिसमें भावना दृढ़ हो गई है, वह सत्य भासने लगा है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको जगत् संकल्पमात्र ही भासता है। संकल्प से भिन्न जगत् का कुछ रूप नहीं, तो उसमें मैं सत्य और असत्य किसे कहूँ ?

सब जगत् भ्रममात्र है। जो ज्ञानवान् हैं, उनको सत्य-असत्य कुछ नहीं। सब ज्ञानरूप ही दिखता है। जैसे जिसको स्वप्न में जाग्रत् की स्मृति आई है, उसको फिर स्वप्न नहीं आता है, वैसे ही जिसको स्वप्न में भी स्वरूप का बोध हुआ है, उसका फिर जन्म नहीं होता। इससे न कोई जाग्रत् है, न कोई स्वप्न है और न कोई नीति है, क्योंकि नीति

भी कुछ और वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं और उनकी मर्यादा नीति भी भासित होती है तो वह नीति किससे है ? सब ज्ञानरूप होती है। वैसे ही जाग्रत् में भी सब ज्ञानरूप है और संवित् के फुरने से नाना प्रकार के पदार्थ दिखते हैं। उसमें नीति भी भासित होती है। इससे न कोई जगत् है और न कोई नीति। इसका कारण कोई नहीं। कारण विना ही जगत् अकस्मात् उपजता और मिट भी जाता है। संवेदन के जगने से जगत् प्रकट होता है और संवेदन के मिटने से मिट जाता है—इससे जगत् संवेदन-रूप है। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, वैसे ही संवेदन ही जगत्रूप होकर दिखता है। जैसे वायु स्पन्दनरूप होती है, तब स्फुरणरूप होकर भासित होती है और निस्स्पन्द को कोई नहीं जानता, परन्तु वायु को दोनों तुल्य हैं, वैसे ही चित्तसंवेदन के फुरने में जगत् दिखता है और ठहरने में जगत् किञ्चन मिट जाता है—फुरना और ठहरना दोनों उसके किञ्चन हैं, और वह आप दोनों में तुल्य है।

हे बधिक ! नीति भी अज्ञानी को समझाने के लिए कही है। स्वप्न भी असत्य है, यह सब जानते हैं, पर स्वप्न का वृत्तान्त जाग्रत् में सिद्ध होता दिखता है। कोई कहता है कि रात्रि में मुझको स्वप्न हुआ है कि अमुक कार्य इस प्रकार होगा, और जाग्रत् में वैसा ही होता दिखता है। पिता पुत्र से कह जाता है कि मेरी गति करना और अमुक स्थान में द्रव्य गड़ा है, उसे तुम निकाल लो। सो यह उसी प्रकार होता देखा गया है। जो नीति होती तो कोई कार्य सिद्ध न होता, पर वह तो होता है, इससे नीति भी कुछ वस्तु नहीं। आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् उसका नाम है, जिसे आत्मा कहते हैं। जिसको तुम जाग्रत् कहते हो वह कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् मन-सहित षट्इन्द्रियों का संवेदन होता है। वह स्वप्न में भी मनसहित षट्इन्द्रियों का संवेदन होता है और उनसे विषयों का ग्रहण होता है। इससे जाग्रत् कुछ वस्तु नहीं। जो अर्थ जाग्रत् में सिद्ध होता है, वह स्वप्न में भी सिद्ध हो तो जाग्रत् कुछ वस्तु न हुई। और जो तू कहे

कि स्वप्न कुछ वस्तु है तो स्वप्न भी कुछ वस्तु नहीं; क्योंकि स्वप्न वहाँ होता है, जहाँ निद्राभ्रम होता है। जगत् केवल शुद्ध चिन्मात्रसत्ता का किञ्चन है। जैसे रत्नों की चमक स्थिर होती है, सो रत्नों से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, रत्न ही उसमें व्यापा है, वसे ही जाग्रत् व स्वप्न का जगत् आत्मा का चमत्कार है। बोधसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है। वह अनन्त है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जो आत्मा से भिन्न जगत् दिखता है, वह नाशवान् है। आत्मा सदा अविनाशी है। हे बधिक! जब यह पुरुष शरीर को छोड़ता है, तब परलोक में सुख-दुःख ऐसे भोगता है, जैसे जल में तरङ्ग उठकर मिट जाता है और दूसरी जगह और प्रकार से उठता है, सो जल ही जल है। पहले भी जल था, पीछे भी जल है, तरङ्ग भी जल है और जल ही का विलास इस प्रकार फुरता है। वैसे ही यह शरीर भी अनुभवरूप है–अनुभव से भिन्न कुछ नहीं।

जैसे मनुष्य एक स्वप्न को छोड़कर दूसरा स्वप्न देखता है तो क्या है; अपना ही रूप है, वैसे ही यह जगत् भी आत्मरूप है। हे बधिक! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही चारों वपु हैं। जाग्रत् सृष्टि की समष्टिता है, उसका नाम विराट् है। स्वप्न लिङ्ग शरीर की समष्टिता है, उसका नाम हिरण्यगर्भ है। सुषुप्ति शरीर की समष्टिता अव्याकृत माया है और तुरीय सब शरीरों की समष्टिता है। वह चैतन्यरूप आत्मा है। तुरीय साक्षीभूत के जानने को कहते हैं। उसकी समष्टितारूप चैतन्य वपु है। चारों शरीर उसके हैं। वह सदा निराकार अचेत चिन्मात्र है। हे बधिक! ये चारों परमात्मा के शरीर हैं। वह परमात्मा निराकार है। आकार जो उसमें दिखता है, वह भी वही रूप है। आकार कल्पनामात्र है और आत्मा सब कल्पना से रहित है–इससे सब जगत् चिदाकाशरूप है। जैसे पत्थर की शिला में कमल के फूल नहीं लगते–उनका होना असंभव है, वैसे ही आत्मा में जगत् का होना असंभव है। हे बधिक! आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। तू जागकर देख कि सब पदार्थ संकल्पमात्र हैं और जिसमें कल्पित हैं, वह नामरूप से

रहित है। जब तू उसको देखेगा तब सब जगत् आत्मरूप प्रतीत होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वप्ननिर्णयो नाम द्विशताधिकषट्त्रिंशत्तमस्सर्गः॥ २३६॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर! उस पुरुष के हृदय में जो सृष्टि देखी थी, उसमें तुम किस प्रकार बिचरते थे और क्या देखा था, सो कहो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जब मैंने उसके हृदय में नाना प्रकार का जगत् देखा, तब मैं अपने कुटुम्ब में रहने लगा। पहले की स्मृति भूलकर सोलह वर्ष तक उसी को सत्य जानकर चेष्टा करता रहा। तब मेरे गृह में माननीय उग्रतपा नाम के एक ऋषीश्वर आये। उनका मैंने बहुत आदर किया। उनके चरण धोकर मैंने सिंहासन पर बिठाया और नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों से उनको तृप्त किया। जब उन ऋषि ने भोजन करके विश्राम किया, तब मैंने कहा, हे ऋषीश्वर! यह मैं जानता हूँ कि तुम परमज्ञानी हो, क्योंकि अपने रूप आत्मतत्त्व को आप ही जानते हो। जब तुम आये थे, तब थके हुए थे, परन्तु तुममें क्रोध न देख पड़ा, और जब तुमने नाना प्रकार के भोजन किये, तब तुम हर्षित भी नहीं हुए। इस कारण मैंने जाना कि तुम परम बोधवान् हो और तुममें राग-द्वेष कुछ नहीं है। इससे मैं संशययुक्त होकर एक प्रश्न करता हूँ, कृपा करके उसका उत्तर देकर मेरे संशय को दूर कीजिये। हे भगवन्! इस जगत् में जो दुर्भिक्ष पड़ता है और सब इकट्ठे मर जाते और कष्ट पाते हैं, इसका क्या कारण है? यह तो मैं जानता हूँ कि जैसे शुभ अथवा अशुभ कर्म जीव करता है, उनका फल पाता है। जैसे धान को बोता है तो समय पाकर फल भी अवश्य आता है; वैसे ही कर्म का फल भी अवश्य प्राप्त होता है। और जिसने कर्म किया है, वही फल भी भोगता है, पर दुर्भिक्ष में इकट्ठा कष्ट क्योंकर प्राप्त होता है? उग्रतपा बोले, हे साधो! प्रथम यह सुनो कि जगत् क्या वस्तु है। यह जगत् कारण विना उत्पन्न हुआ है और जो कारण विना देख पड़े, उसे भ्रममात्र जानिये। इससे तुम विचारकर देखो कि 'यह जगत् क्या है' तुम 'कौन हो' 'इसमें क्या है' और 'इसका अन्त कहाँ तक है'?

अद्वैत सत्ता है, जिसके पास द्वैत कुछ नहीं। सो सर्वदा अद्वैतसत्ता है। उसमें जगत् का अत्यन्त अभाव है, जैसे मरुस्थल में जल का अभाव है—इसलिए सर्वदा तुरीयातीतपद है। जो मुझसे पूछो तो मुझको तरङ्ग, बुलबुले झाग और भँवर कुछ नहीं भासित होते—सर्वदा चित्-समुद्र ही दिखता है। उदय-अस्त से रहित आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। और पृथ्वी आदि तत्त्व जो दिखते हैं, वे भी कुछ उपजे नहीं, आत्मसत्ता का किञ्चन हो इस प्रकार भासित होता है।

जैसे नख और केश उपजते भी हैं और नाश भी हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् उपजता भी है और लीन भी हो जाता है। जैसे नख और केश के उपजने और काटने से शरीर ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही जगत् के उपजने और लीन होने में आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। हे राम ! यह जगत् उपजा नहीं तो उसमें सत्य और असत्य कल्पना और स्मृति क्या कहिये और भीतर और बाहर क्या कहिये ? अद्वैतसत्ता में कुछ कल्पना नहीं बनती । जो तुम कहो कि स्मृति भीतर होती है, परन्तु भीतर से बाहर दिखती है, तो भीतर अनुभव की अपेक्षा से हुई है, वह भी उत्पन्न नहीं हुई। तब मैं भीतर और बाहर क्या कहूँ ? जैसे स्वप्न-सृष्टि भासित होती है सो वह अपना ही अनुभव होता है, और वही सृष्टिरूप दिखता है। वहाँ तो भीतर-बाहर कुछ नहीं है। वैसे ही यह जगत् भीतर-बाहर कुछ नहीं है, सब भ्रमरूप है। जिसको इच्छा कहते हैं, उसे ही स्मृति कहते हैं। विद्या-अविद्या, इष्ट-अनिष्ट आदि सब शब्द सब आत्मा के ही नाम हैं—आत्मा से भिन्न और पदार्थ कुछ नहीं है। हे राम ! जागकर देखो कि सब तुम्हारा ही स्वरूप है। मिथ्या भ्रम को अंगीकार करके भिन्न क्यों देखते हो ? सब शब्द विना अर्थ के कहीं नहीं हैं और शब्द-अर्थ का विचार संकल्प से होता है। संकल्प तब उठता है जब चित्त में अहंअभिमान होता है। उस चित्त को आत्मासार में लीन करो। जब चित्त का निर्वाण करोगे, तब सब जगत् शान्त हो जायगा। अहं के दर्पण में जगत्रूपी प्रतिबिम्ब पड़ता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं। जब चित्त निर्वाण हो जायगा, तब सब

द्वैतकल्पना मिट जायगी। यह जो मोक्षशास्त्र मैंने तुमसे कहा है, इसके अर्थ कर विचारकर संकल्प को त्यागकर, अपने परमानन्दस्वरूप में स्थित हो रहो।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणेद्विशताधिकैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः २५१

वशिष्ठजी बोले, हे राम! यह जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जैसे समुद्र में तरंग स्वाभाविक उठते हैं, वैसे ही संवित्सत्ता से आदि-सृष्टि जगी है। और जैसे जल स्वाभाविक द्रवता से तरङ्गरूप अपनी सत्ता से बढ़ता जाता है, वैसे ही आत्मसत्ता से जगत् का विस्तार होता है। यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जब चिन्मात्र आत्मसत्ता का आभास बहिर्मुख जगता है, तब अन्तःकरण चतुष्टय होते हैं। उनमें जो निश्चय होता है, उसका नाम नीति है। वह प्रथम अकस्मात् कारण के विना स्वाभाविक ही जग आया है और आभासमात्र है। जब वह दृढ़ हो गया, तब नीति स्थित हुई। वास्तव में द्वैत कुछ बना नहीं। जो सम्यक्दर्शी पुरुष हैं, उनको सब आत्मा ही दिखता है—जैसे पत्ते, फूल, फल, टहनी सब वृक्ष हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। हे राम! वृक्ष में जो फूल, फल और टहनी होती हैं, सो किसी कारण से बुद्धिपूर्वक बनी नहीं होतीं? वैसे ही इस जगत् को भी जानो। जो सम्यक्दर्शी हैं, उनको भिन्न-भिन्न रूप भी पत्ते, टास आदि के विस्तार में एक वृक्ष ही दिखता है। वैसे ही यथार्थ ज्ञानी को सब आत्मा ही दिखता है, और मिथ्यादृष्टिवाले को भिन्न-भिन्न पदार्थ दिखते हैं। हे राम! वृक्ष को देखनेवाला भी और होता है, और दृष्टान्त में दूसरा कोई नहीं। चैतन्य आत्मा का आभास ही चैत्य है, वही चैतन्यरूप होकर भासित होता है। उस चैतन्य आभास को असम्यक् दृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ दीखते हैं। जैसे पत्ते, फूल, फल और वृक्ष अपने को भिन्न जानें। और सम्यक्दर्शी सबको आत्मरूप देखता है। ज्ञानी और अज्ञानी सब आत्मरूप हैं—जैसे दीवार पर लिखी पुतलियाँ दीवार से भिन्न नहीं होतीं, वैसे ही सर्वगत आत्म-रूपी दीवार के सब दृश्य चित्र हैं। वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं। जैसे

आकाश में शून्यता, फूलों में सुगन्ध, जल में द्रवता, वायु में स्पन्दन और अग्नि में उष्णता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। हे राम! जगत आत्मा का आभास है, इसलिए वही रूप है। यह जगत् भी अचैत्य चिन्मात्र है।

जो तुम कहो कि अचैत्य चिन्मात्र है तो पृथ्वी, पहाड़ आदि आकार क्यों दिखतेहैं? तो हे राम! जैसे नित्यप्रति जो तुमको स्वप्न आता है और उस अनुभव आकाश में पृथ्वी आदिक तत्त्व दिखते हैं तो वही चिन्मात्र ही आकार होकर दिखता है, और कुछ नहीं। वैसे ही इसे भी जानो। यह सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह अनुभवरूप है। जैसे चिन्मात्र आत्मा में सृष्टि आभासमात्र है, वैसे ही कारण-कार्य-भाव भी आभास-मात्र है। परन्तु वही रूप है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। ये पदार्थ कार्य-कारण-अभ्यास की दृढ़ता से उपजे लगते हैं, पर आदि-सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी--पीछे कारण से कार्य हुए। यद्यपि कार्य-कारण दिखते हैं तो भी कुछ उपजे नहीं, सदा अद्वैतरूप है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के कार्य-कारण दिखते हैं, परन्तु कुछ हुए नहीं, सदा अद्वैतरूप हैं, वैसे ही जाग्रत् में भी जानो। पदार्थों की स्मृति भी स्वप्न में होती है और अनुभव भी स्वप्न में होता है। जब स्वप्न ही नहीं हुआ तो स्मृति कहाँ है और अनुभव कहाँ है? न जगत् का अनुभव है और न जगत् है। अनुभवसत्ता ही जगत्रूप होकर दिखती है, जो जाग्रत्रूप है। जब उसका अनुभव होगा, तब न स्मृति रहेगी और न जगत् रहेगा। इसलिए हे राम! जो अनुभवरूप है, उसका अनुभव करो। यह जगत् भ्रमरूप है। जो उपजा नहीं, वह स्वतः सिद्ध है, और जो उपजा है और जिसमें दिखता है, उसे उसी का रूप जानो, भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न में जो पदार्थ दिखते हैं, वे उपजे नहीं, परन्तु उपजे दिखते हैं, सो वे अनुभव में उपजे हैं। अनुभव स्वतः सिद्ध है। उसमें जो पदार्थ भासित होते हैं, वे अनुभव-रूप हैं और अनुभवरूप ही इस प्रकार होकर दिखता है। वैसे ही ये सब अनुभवरूप हैं--भिन्न कुछ नहीं।

यह सब जगत् आत्मरूप है; इसलिए हे रामजी! सब जगत् अकारण और आत्मा का आभास है—कारण से कुछ नहीं बना। अनन्त ब्रह्मसत्ता ब्रह्माण्ड में आभास जगते हैं। वे अज्ञानी को कार्य-कारण सहित प्रतीत होते हैं। उसमें नीति हुई है, पर जब जागकर देखोगे, तब सब अद्वैतरूप दिखेगा। न कोई नीति है और न जगत् है। जब तक जीव अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ है, तब तक जो पदार्थ उस सृष्टि में है, वही दिखेगा और जैसा कर्म ह, वही भासित होगा। यह जगत् एक स्वप्न है, जिसमें स्वर्गादिक इष्ट पदार्थ और नरकादिक अनिष्ट पदार्थ हैं, और उनके प्राप्त होने का साधन धर्म तथा अधर्म है। धर्म स्वर्ग-सुख का और अधर्म नरकदुःख का साधन हैं। जब तक अविद्यारूपी निद्रा में जीव सोया हुआ है, तब तक इनको यथार्थ जानता है, पर जब जागेगा, तब सब आत्मरूप होगा। इष्ट-अनिष्ट कोई न रहेगा। यह सब जगत् अनुभवरूप है, और अनुभव सदा जाग्रत् ज्योति है। उसी को जानो। जिन पुरुषों ने इस अनुभव को नहीं जाना, वे उन्मत्त पशु हैं, क्योंकि वे आत्मबोध से शून्य हैं। वे सदा समीपवर्ती आत्मा को नहीं जानते, इससे उन्मत्त हैं, क्योंकि उन्मत्त को भी अपना आपा भूल जाता है। जैसे किसी को पिशाच लगता है, तब उसको अपना स्वरूप भूल जाता है और पिशाच ही देह में बोलता है, वैसे ही जिसको अज्ञानरूपी भूत लगता है, वह उन्मत्त हो जाता है, आत्मस्वरूप को नहीं जानता। वह विपर्यय बुद्धि से देहादिक को आत्मा जानता है और विपर्यय शब्द करता है। जिनको स्वरूप में अहंप्रतीति है, उनको सब जगत् आत्मरूप दिखता है। हे राम! आदिसृष्टि किसी कारण से बनी होती तो उसके पीछे प्रलयादिक में कुछ शेष रहता, पर वह अत्यन्त अभाव होती है, इसलिए सब जगत् अकारण है। जैसे चिन्तामणि से अकारण पदार्थ दिखता है, वैसे ही यह अकारण है। न कहीं संस्कार है और न स्मृति है, सब आत्मा के पर्याय हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इससे सब जगत् को आत्मरूप जानो।

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो संस्कार से अनुभव न होता और

अनुभव से स्मृति न होती तो इस प्रकार प्रसिद्ध क्यों दिखते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे राम! तुम्हारा यह संशय भी दूर करता हूँ। जसे हाथी के बालक को मारने में सिंह को कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, वैसे ही इस संशय का नाश करने में मुझे कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। जैसे सूर्य के उदय हुए तिमिर का अभाव हो जाता है, वैसे ही मेरे वचनों से तुम्हारा संशय दूर हो जायगा। हे राम! यह सब जगत् चिन्मात्रस्वरूप है—उससे भिन्न नहीं। जैसे खम्भे में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, परन्तु पुतलियाँ कुछ बनी नहीं, उसके मन में पुतलियों का आकार है, वैसे ही आत्मरूपी खम्भे में चित्तरूपी शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है।

हे राम! खम्भे में पुतलियाँ निकालते हैं तभी निकलती हैं, परन्तु आत्मा तो अद्वैत और निराकार है, उसमें और कुछ नहीं निकलता। उसमें वाणी की भी गति नहीं। वह चैतन्यमात्र है। अहं के फुरने से वह अपने को चैतन्य जानता है और फिर आगे शब्दों के अर्थ की कल्पना करता है। अपने को शुद्ध अधिष्ठान चैतन्य जानना ही ज्ञान है। ईश्वर, जीव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देश, काल इत्यादि शब्द और अर्थ स्फुरण ही में हुए हैं—जैसे एक ही समुद्र में द्रवता से आवर्त, तरङ्ग, फेन और बुलबुले आदि नाम होते हैं, वैसे ही सब ब्रह्म ही के नाम हैं, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। वह फुरने से जगत् आकार होकर भासता है और फुरने से रहित होने पर जगत्-आकार मिट जाता है। परन्तु फुरने न फुरने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है। जैसे स्पंदन और निस्पंद में वायु ज्यों की त्यों है और सब पदार्थ जो दिखते हैं, वे ब्रह्मस्वरूप हैं। जैसे स्वप्न में अपना ही अनुभव पहाड़, वृक्ष आदि नाना प्रकार का जगत् होकर भासित होता है, वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जाग्रत् जगत्‌रूप होकर दिखती है। वही कहीं अन्तवाहक, कहीं आधिभौतिक, कहीं ईश्वर और कहीं जीव आदि होकर भासित होता है, इससे लेकर शब्द-अर्थसंयुक्त जो जीव प्रकट होता गया है, वह ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित हुई है। जैसे खम्भे में पुतलियाँ खम्भरूप होती हैं, वैसे ही आत्माकाश में

जगत् आत्मरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे उसमें जगत् आभास है, वैसे ही स्मृति-अनुभव भी आभास है। स्मृति जो संस्कार है उससे जगत् की उत्पत्ति तब कहिये, जब स्मृति आभास न हो। स्मृति-संस्कार भी तो आभास है, फिर वह जगत् का कारण कैसे हो सकती है? स्मृति भी तब होती है, जब प्रथम जगत् होता है। जब जगत् ही नहीं तो स्मृति कैसे हो? इससे जगत् आभासमात्र है। इसका कारण कोई नहीं।

हे राम! स्मृति-संस्कार जगत् का कारण तब हो, जब कुछ जगत् आगे हुआ हो। सो तो कुछ हुआ नहीं। और अनुभव उसका होता है, जो पदार्थ भासित होता है। सो इस जगत् के आदि में कुछ जगत् का अंश न था, फिर अनुभव कैसे कहूँ? जो अनुभव ही न हुआ तो स्मृति किसको हो और जब स्मृति ही न हुई तो फिर उससे जगत् कैसे कहूँ? इसलिए हे राम! आदि-जगत् अकारण अकस्मात् उपजा है। जैसे रत्न की चमक होती है, वैसे ही जगत् है। यह पीछे से कारण-कार्य-रूप भासित होता है। इससे हे राम! जिसका कारण कोई न हो, उसे जानिये कि उपजा नहीं। वह जिसमें दिखता है, वही रूप है। अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं। सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। स्मृति भी भ्रम में आभास जगा है और अनुभव भी आभास है। सो ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। और आभास भी कुछ उपजा नहीं, आभास की नाईं जगत् दिखता है—आत्म-सत्ता अद्वैत है, जिसमें आभास, स्मृति, अनुभव, जाग्रत् और स्वप्न की कल्पना कुछ नहीं तो क्या है? ब्रह्म ही है। फुरना जिसे कहते हैं, वह कुछ वस्तु नहीं है। जैसे खम्भे में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, वैसे ही स्पन्दन चैतन्य आत्मा में जगत् की कल्पना करता है। शिल्पी तो आप भिन्न होकर कल्पना करता है, और यह चित्तसत्ता ऐसी है कि अपने ही स्वरूप में कल्पना करती है और जगत्रूपी पुत-लियाँ देखती है। आत्मा आकाशरूपी खंभा है, उसमें जगत् भी आकाश-रूपी पुतलियाँ हैं। जैसे आकाश अपने आकाशभाव में स्थित है, वैसे ही ब्रह्म अपने ब्रह्मभाव में स्थित है। जगत् भिन्न भी दिखता है परन्तु

अचैत्य चिन्मात्रस्वरूप है, भेदभाव को नहीं प्राप्त हुआ। और विकारवान् भी दिखता है, परन्तु विकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्न में जीव आप ही सब स्पष्ट दिखते हैं, वैसे ही यह जगत् अपने आपमें दिखता है, परन्तु कुछ नहीं है। हे राम ! यही आश्चर्य है कि मैंने अपने अनुभव को प्रकट करके उपदेश किया है; जीव आप भी जानते हैं, स्वप्न में नित्य देखते हैं और सुनते भी हैं, परन्तु निश्चय करके जान नहीं सकते और स्वप्न के पदार्थों को मूर्खता से त्याग नहीं सकते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शालभजनकोपदेशो नाम द्विशताधिकद्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो पुरुष इन्द्रियों के इष्ट विषयों को पाकर सुख नहीं मानता और अनिष्ट विषयों को पाकर दुःख नहीं मानता, इनके भ्रम से मुक्त है और बड़े भोग प्राप्त हों तो भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता, उसको जीवन्मुक्त जानो। हे राम ! सब शब्द अर्थ जिसको द्वैतरूप नहीं दिखते, उसे तुम जीवन्मुक्त जानो। जिस अविद्यारूपी जाग्रत् में अज्ञानी जागते हैं, उसमें ज्ञानवान् सो रहे हैं और परमार्थरूपी जाग्रत् में अज्ञानी सो रहे हैं। वे नहीं जानते कि परमार्थ क्या है ? परन्तु उसमें जीवन्मुक्त स्थित है। इस कारण ज्ञानवान् इष्ट-अनिष्ट विषयों को पाकर सुखी और दुखी नहीं होते। उनका चित्त सदा आत्मपद में स्थित हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो पुरुष सुख पाकर सुखी और दुःख से दुखी नहीं होता, वह तो जड़ हुआ। चैतन्य तो न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सुख-दुःख तब तक होता है, जबतक चित्त को जगत् का सम्बन्ध होता है। जब चित्त जगत् के सम्बन्ध से रहित चिन्मात्र होता है, तब उपाधिकृत सुख-दुःख नहीं रहते। जो अपने स्वभाव में स्थित पुरुष हैं, वे परम विश्राम को प्राप्त होते हैं और सब कुछ करते हैं, परन्तु स्वरूप से उनको कर्तव्य का उत्थान कुछ नहीं होता, और सदा अद्वैत में निश्चय रहता है। नेत्रों से वे देखते हैं, परन्तु द्वैत की भावना उनको नहीं फुरती। जैसे अत्यन्त उन्मत्त को सब पदार्थ दिखते हैं, परन्तु पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही जिसकी बुद्धि

अद्वैत में दृढ़ हुई है, उसे द्वैतरूप पदार्थ नहीं भासित होते। जिनको द्वैत नहीं दिखता, उनको सुख-दुःख कैसे लगे? उन पुरुषों ने वहाँ विश्राम किया है, जहाँ न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। वे सब द्वैत से रहित अद्वैतरूपी शय्या में विश्राम कर रहे हैं और संसार-मार्ग को नाँघ गये हैं।

आत्मा के प्रमाद से जीव को कष्ट होता है। जो अपनी विभूति विद्या को त्यागकर प्रसन्न होता है और फिर संसार के क्रूरमार्ग में कष्ट पाता है, वह मनुष्य नहीं, मानो मृग है। वह संसाररूपी वन में भटकता कष्ट पाता है। जब प्यास से व्याकुल होता है, तब जल की ओर दौड़ता है। पर जहाँ जाता है, वहाँ मरुस्थल की नदी मृगमरीचिका ही दिखती है, जल नहीं प्राप्त होता। तब आगे दौड़ता है और प्यास अधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार दौड़ता-दौड़ता जड़ हो जाता है और दुखी होकर मर जाता है, परन्तु उसे जल नहीं प्राप्त होता। यह जल, दौड़ना, जड़ता और मरना चारों अलग-अलग सुनो। हे राम! मन ही मृग है, जो संसाररूपी वन में आ पड़ा है। यह इन्द्रियों के विषयरूपी जलाभास को सत्य जानकर शान्ति के लिए तृष्णारूपी मार्ग में दौड़ता है, पर वे विषय आभासमात्र हैं और उनमें शान्ति-रूपी जल नहीं है, इसलिए वह दौड़ता-दौड़ता जब वृद्ध अवस्था में पड़ता है, तब जड़ होकर बड़े कष्ट को प्राप्त होता है, पर शान्तिरूपी जल नहीं पाता, इससे तृप्त भी नहीं होता। हे राम! मनुष्य मानों मजदूर है, जिसके सिर पर बड़ा भार है। वह अटपटे मार्ग में चला जाता है, जहाँ उसको चोर ने लूट लिया है, इससे दुखी होता है। हे राम! मनुष्य-रूपी मज़दूर के शीश पर जन्म का बड़ा भार है। यह संशयरूपी अट-पटे मार्ग में खड़ा है। कर्मइन्द्रियों और ज्ञानइन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषय हैं। इनसे रागद्वेषरूपी चोर ने विचाररूपी धन हर लिया है, इससे वह रागद्वेष और तृष्णारूपी अग्नि से जलता है। बड़ा आश्चर्य है कि ज्ञानी लोग ऐसे कुमार्ग को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और अन्य आनन्द को त्यागकर परमपद आनन्द को प्राप्त हुए हैं।

उन मुक्त पुरुषों को संसार का दुःख-सुख व्याप नहीं सकता, क्योंकि वे परम अद्वैत शुद्ध सत्ता को प्राप्त हुए हैं। वे सबको देखते हैं। ग्रहण-त्याग-रूपी अग्नि को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और सदा उसी में सोये रहते हैं। वास्तव में सुख से वे ही सोते हैं और उनके भीतर सदा शान्ति रहती है। परन्तु वे जड़ता से रहित हैं और आकाश से भी अधिक सूक्ष्म सत्ता को प्राप्त हुए हैं। जैसे समुद्र में धूल नहीं होती और सूर्य में अंधकार नहीं होता, वैसे ही उनमें इन्द्रियों के इष्ट विषयों की तृष्णा नहीं होती। उन विषयों से रहित होकर उन्होंने विश्राम पाया है। यह आश्चर्य है कि अणु से अणु और महत् से महत् होकर भी वे केवल विश्राम को प्राप्त हुए हैं। हे राम ! जो आत्मसत्ता की ओर से सोये पड़े हैं, उनको दुःख होता है। पर ज्ञानवान् द्वैत जगत् की ओर जड़ हुए हैं और अपने स्वरूप में स्थित हैं, इससे उनको दुःख कुछ नहीं। वे जाग्रत् की ओर से सोये हैं। उनका अविद्याकृत जगत् और दृश्य का सम्बन्ध दूर हो गया है। जब वे इस ओर से सोये हैं तो उनको फिर दुःख कैसे हो ?

वे पुरुष सदा अद्वैतरूप हैं। वे अनन्त जगत् के कर्त्ता हैं और अपने को सदा अकर्ता जानते हैं, ऐसे आश्चर्यपद में उन्होंने विश्राम पाया है। जगत् के समूहसत्ता समान में स्थित होकर उन्होंने विश्राम पाया है, यह आश्चर्य है। वे सब क्रिया करते हैं, परन्तु सदा अक्रियपद में स्थित हैं और सम्पूर्ण पदार्थों को स्वप्नवत् जानकर सुषुप्त हुए हैं। वे आकाश से भी अधिक सूक्ष्म हैं, क्योंकि आत्मसत्ता में विश्राम पाया है। वह आत्मसत्ता आकाश को भी व्याप रही है; उसी को आत्मवत् जानकर वे स्थित हुए हैं। जो परम स्वच्छ पद है, उसमें सब शब्द अर्थ आकाशरूप हो जाते हैं और आकाश भी आकाश हो जाता है। उस पद में उन्होंने विश्राम किया है, यही आश्चर्य है। नेत्र उनके खुले हुए हैं, पर सुषुप्ति में स्थित हैं। ऐसी सुषुप्ति है कि उनका दृग और दृश्य-भाव दूर हो गया है। वे जगत् के प्रकाश से रहित और परम प्रकाशरूप हैं। हे राम ! वे बाहर के भोग्य पदार्थों से रहित हैं और आत्मा में स्थित

हैं। प्रकट में वे सोते हैं, पर सुषुप्ति में जागते हैं और जाग्रत् से उनको सुषुप्ति है। उस सुषुप्ति से वे सोये हैं और कर्म करते हैं, परन्तु कर्ता-कारणभाव से रहित हैं। क्रोध भी करते हैं। परन्तु क्रोध के स्फुरण से रहित हैं। सब ओर से प्रकाशवान् निर्भय होकर विश्राम करते हैं। कामना करते भी दिखते हैं, परन्तु तृष्णा से रहित हैं और निस्संकल्प पद में स्थित हुए हैं। यह आश्चर्य है कि जिस क्रिया की ओर वे देखते हैं, उसी ओर उनको शान्ति दिखती है, क्योंकि एक मित्र उनके साथ रहता है। इससे कोई दुःख उनके निकट नहीं आता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनं नाम द्विशताधिकत्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५३ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह मित्र कौन है? ज्ञानी का कोई कर्म मित्र है अथवा आत्मा में विश्राम का नाम मित्र है; यह संक्षेप में मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम, निष्काम कर्म ही वह अपना मित्र है, अर्थात् अपना ही प्रयत्न उनका मित्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, ये तीनों ताप सदा अज्ञानी को जलाते हैं, पर ज्ञानी को नहीं। जो बड़ा कष्ट और बहुत कोप भी उनको स्पर्श नहीं करता। जैसे कमल को जल नहीं स्पर्श करता, वसे ही ज्ञानी को कष्ट नहीं स्पर्श करता, क्योंकि वह मित्र उसके साथ रहता है। जैसे बालक का मित्र बालक होता है, सो बड़े होने पर भी उसका हितू होता है, वैसे ही चिरकाल से ज्ञानवान् ने जो अभ्यास किया है, वही उसका मित्र होकर साथ देता है और दुष्ट क्रिया की ओर उसे नहीं प्रवृत्त होने देता, शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। जसे पिता पुत्र को अशुभ की ओर से बरजकर शुभ की ओर लगाता है, वैसे ही विचाररूपी मित्र उसको तृष्णा से वर्जन करता है और आत्मा की ओर लगाता है। वह राग-द्वेषरूपी अग्नि से निकालकर समतारूपी शीतलता उसे देता है। ऐसा विचाररूपी उसका मित्र उसे सब दुःख-क्लेशादि से उबार ले जाता है—जैसे मल्लाह नदी के पार ले जाता है।

हे राम! विचाररूपी मित्र बहुत सुन्दर है, शान्तरूप है। वह सब

मल को जलानेवाली अग्नि है। जैसे अग्नि सुवर्ण के मैल को जलाकर उसे निर्मल बनाती है, वैसे ही विचाररूपी अग्नि राग-द्वेषरूपी मल को जलाती है। जब विचाररूपी मित्र आता है, तब स्वाभाविक चेष्टा निर्मल हो जाती है और वह वेदोक्त मार्ग में बिचरता है। तब सब कोई उसको देखकर प्रसन्न होते हैं और दया, कोमलता, अमान और अक्रोध आदि गुण उसे प्राप्त होते हैं। जैसे तिलों में तेल, फूल में सुगन्ध और अग्नि में गर्मी रहती है, वैसे ही विचार में शुभ आचार रहते हैं। विचाररूपी मित्र शूर है। जो कोई शत्रु होता है, उसको वह पहले मारता है और अज्ञानरूपी शत्रु का नाश करता है—जैसे सूर्य तम का नाश करता है। फिर वह दीपक के प्रकाश-सा साथ होता है, विषय-भोगरूपी अन्धे कूप में गिरने नहीं देता और सब ओर से रक्षा करता है। जिस ओर वह पुरुष जाता है, उस ओर सबको प्रसन्नता होती है। हे राम ! उसकी वाणी कोमल, मधुर और स्निग्ध होती है। वह उदाराशय क्षोभ से रहित होकर लोगों का उपकार करता है, और वाणी से सबको प्रसन्न रखता है। वह सौहार्द, शान्ति और परमार्थ का कारण है। हे राम ! वचन तो उसके प्रसन्नता को लिए होते हैं और वह आप भी सदा प्रसन्न रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने भर्ता को सदा प्रसन्न रखती है, वैसे ही विचाररूपी मित्र उसको सदा प्रसन्न रखता है और शुभ आचार में चलाता है। दान, तप, यज्ञादिक शुभ कर्म वह आप भी करता है और लोगों से भी कराता है। जब अन्तःकरण में विवेक-रूपी मन्त्री आता है तब वह वहाँ अपने परिवार को भी साथ ले आता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! उसका परिवार कौन है ? उसका स्वरूप और क्या आचार है ? संक्षेप से कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! स्नान, दान, तपस्या और ध्यान, ये चारों उसके बेटे हैं। स्नान यह है कि सदा पवित्र रहे। यथायोग्य और यथाशक्ति दान करे, यह दान है। बाहर की वृत्ति को भीतर स्थित करने का नाम तप और आत्मा में चित्तवृत्ति लगाने का नाम ध्यान है। ये चारों उसके बेटे हैं। ये आत्म-दर्शी हैं, परन्तु वृत्ति को सदा स्वाभाविक अन्तर्मुख करके व्यवहार

करते हैं। मुदिता उसकी स्त्री है–सदा प्रसन्न रहने का नाम मुदिता है–जो वंदनीय है। जसे द्वितीया के चन्द्रमा की रेखा को देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं, वैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं। मुदितारूपी स्त्री के साथ करुणा और दया नाम की एक सहेली रहती है। समतारूपी द्वारपालनी सम्मुख खड़ी रहती है। जब विवेक राजा अन्तःपुर में आता है, तब वह सम्मुख होकर सब स्थान दिखाती है और सदा साथ रहती है। जिस ओर राजा देखता है, उस ओर समता ही देख पड़ती है, जो आनन्द उपजानेवाली है। वह धैर्य और धर्म नाम के दो पुत्र साथ लेकर पुरी में विचरती है और जिस ओर राजा भेजता है, उस ओर उन्हें लिए फिरती है।

जब राजा सवार होकर चलता है, तब वह भी समतारूपी वाहन पर चढ़कर राजा के साथ जाती है। जब राजा विषयरूपी पाँचों शत्रुओं से लड़ाई करता है, तब धैर्य और संतोष मन्त्री मन्त्र देते हैं और विचाररूपी बाण से उनको नष्ट करते हैं। हे राम! विचार सदा उसके संग रहता है और सब कार्य करता है। यह चेष्टा उसकी स्वाभाविक होती है। वह आप सदा अमान रहता है। उसको कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान नहीं फुरता। जैसे काग़ज़ पर लिखी मूर्ति अभिमान से रहित होती है, वैसे ही वह भी अभिमान से रहित है और परमार्थ-निरूपण से रहित निरर्थक वचन नहीं बोलता, जैसे पत्थर कुछ नहीं कहता-सुनता। जिस क्रिया का शास्त्रों और लोगों ने निषेध किया है, उसे नहीं करता। जैसे शव कुछ क्रिया नहीं करता, वैसे ही उसको क्रिया का उत्थान नहीं होता। जहाँ ज्ञानियों और जिज्ञासुओं की सभा होती है, वहाँ वह शेषनाग और बृहस्पति की तरह परमार्थ का निरूपण करता है। सावधानता इत्यादि शुद्ध क्रियाएँ उसमें स्वाभाविक होती हैं। जैसे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में प्रकाश स्वाभाविक होता है, वैसे ही उसमें शुभ क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तिबाह्यलक्षणव्यवहार-वर्णनं नाम द्विशताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः॥ २५४॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह जगत् वास्तव में ज्ञानस्वरूप और आत्मसत्ता का चमत्कार है। और कुछ बना नहीं, ब्रह्मसत्ता ही फुरने से इस प्रकार होकर भासित होती है। इसका कारण भी कोई नहीं। जब महाप्रलय था, तब शब्द-अर्थ द्वैत कुछ न था। उस अद्वैतसत्ता से जगत् प्रकट हुआ है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, वह बीज भी जगत् का कोई न था, तो किस कारण से वह उत्पन्न हुआ और तो कोई कारण न था। इससे अब भी जगत् को महाप्रलयरूप जानो। हे राम ! न कोई पृथ्वी आदि तत्त्व है, न जगत् है, न आभास है और न सृष्टि है। जैसे आकाश के फूलों में सुगन्ध नहीं होती, वैसे ही इनका होना भी नहीं है। केवल स्वच्छ ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। रूप, इन्द्रियाँ और मन भी ब्रह्मस्वरूप है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव है और मन ही नाना प्रकार का जगत् और इन्द्रियाँ होकर दिखता है, और कुछ नहीं है, वैसे ही यह जगत् भी वही रूप है। हे राम ! सब जगत् आत्मरूप है। जैसे कारण विना आकाश में दूसरा चन्द्रमा दिखता है, सो वास्तव में है नहीं, वसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है, और जिसमें यह आभास प्रकट हुआ है, वह अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। ये सब पदार्थ जो तुमको दिखते हैं, उन्हें ब्रह्मस्वरूप जानो। जैसे मनोराज्य की सृष्टि अपने अनुभव में होती है और उसका स्वरूप अनुभव से भिन्न नहीं होता, वैसे ही सृष्टि के आदि में जो अनुभव होता है, वह अनुभवरूप है। और कुछ उपजा नहीं—वही अनुभवसत्ता इस प्रकार भासित होती है।

हे राम ! देश से देशान्तर को जो संवित् प्राप्त होती है, उसमें जो अनुभव है वही तुम्हारा स्वरूप है, और सब आभासमात्र है। जाग्रत् देश को त्यागकर जो स्वप्न शरीर के साथ नहीं मिली, और जाग्रत् स्वप्नदेश के मध्य में जो ब्रह्मसत्ता है, वही तुम्हारा स्वरूप है। वह प्रकाशरूप और अपने आपमें स्थित है। जाग्रत् जगत् जो दिखता है, वह भी उसी का स्वभाव है। जैसे रत्नों का स्वभाव चमकना है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव द्रव है और पवन का स्वभाव चलना है, वैसे ही ब्रह्म का स्वभाव जगत् है। जसे सूर्य की किरणों में जल दिखता

है, वैसे ही आत्मा में जगत् दिखता है। हे राम! यह आश्चर्य है कि अज्ञानी सत्य को असत्य और असत्य को सत्य जानते हैं। जो अनुभव-सत्ता है, उसको छिपाते हैं और खरगोश के सींग सरीखे जगत् को प्रत्यक्ष जानते हैं। वे मूर्ख हैं। सबका प्रकाशक आत्मसत्ता है। जिसको तुम सूर्य देखते हो, वही परमदेव सूर्य होकर दिखता है। चन्द्रमा और अग्नि उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। निदान सबका प्रकाश और तेजसत्ता वही है। जैसे सूर्य की किरणों में सूक्ष्म अणु होते हैं, वैसे ही आत्मसत्ता में सूर्यादिक दिखते हैं। जिनको साकार और निराकार कहते हो, वह सब खरगोश के सींग से हैं। ज्ञानवान् को ऐसे ही दिखता है कि जगत् कुछ उपजा नहीं, तो मैं क्या कहूँ? जहाँ सब शब्दों का अभाव हो जाता है और उसके पीछे चिन्मात्रसत्ता शेष रहती है, वहाँ शून्य का भी अभाव हो जाता है।

हे राम! जिनको तुम जीता कहते हो, उनमें जीता भी कोई नहीं, और जो जीता नहीं तो मरा कैसे हो? जो कहिये जीता है तो जैसे जीता है, वैसे ही मृतक है। मृतक और जीते में कुछ भेद नहीं। इसलिए सब शब्दों से रहित और सबका अधिष्ठान वही सत्ता है। उसमें नानात्व दिखता भी है, परन्तु हुआ कुछ नहीं। पर्वत जो स्थूल दिख आते हैं, वे अणुमात्र भी नहीं—जैसे स्वप्न में पृथ्वी आदि तत्त्व दिखते हैं, परन्तु कुछ हुए नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उसी में जगत् दिखता है। हे राम! जो परमार्थसत्ता से जगत् प्रकट हुआ, वह तो और कुछ न हुआ। इसलिए वही सत्ता जगत्रूप होकर भासित होती है। कोई कहते हैं कि आत्मा में है और कोई कहते हैं कि आत्मा में कुछ नहीं है, पर आत्मा में दोनों शब्दों का अभाव है, बल्कि अभाव का भी अभाव है। यह भी तुम्हारे जानने के लिए कहता हूँ। वह तो स्वस्थ और परम शान्तरूप है। उसमें और तुममें कुछ भेद नहीं है। वह परिपूर्ण, अच्युत, अनन्त और अद्वैत है। वही जगत्रूप होकर दिखता है। जैसे कोई पुरुष शयन करता है तो सुषुप्ति में अद्वैतरूप हो जाता है, फिर सुषुप्ति से स्वप्न फुर आता है

और फिर सुषुप्ति में वह लीन हो जाता है, तो उपजा क्या और लीन क्या हुआ ? स्वप्न के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी, अन्त में भी वही रही। मध्य में जो कुछ दिखा, वह भी वही रूप हुआ, आत्मा से भिन्न तो कुछ न हुआ। इसलिए सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। हे राम ! मुझको तो सदा अनुभवरूप जगत् दिखता है। मैं नहीं जानता कि अज्ञानी को क्या दिखता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि से जो जागा है, उसको अद्वैत अपना रूप दिखता है, वैसे ही तुरीयावस्था में दिखता है। तुरीय और जाग्रत् में भेद कुछ नहीं, जाग्रत् ही तुरीय का नाम है और जाग्रत् तुरीयरूप है। बल्कि यह भी क्या कहना है, सभी अवस्थाएँ तुरीयरूप हैं।

तुरीय जाग्रत्सत्ता का नाम है। जो अनुभव की साक्षी ज्योति है, वह जाग्रत् में भी साक्षीरूप है, स्वप्न में भी साक्षीरूप है और सुषुप्ति में भी साक्षीरूप है। इसलिए सब तुरीयरूप है। परन्तु जिसको स्वरूप का अनुभव हुआ है, उस ज्ञानवान् को ऐसे ही दिखता है और अज्ञानी को भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ दिखती हैं। हे राम ! एक पदार्थ का वृत्ति ने त्याग किया, पर वह दूसरे पदार्थ में नहीं लगी। वह जो मध्य में अनुभव ज्योति है, उसको तुम आत्मसत्ता जानो और उसमें जो फिर कुछ भासित हुआ, उसे भी वही रूप जानो। जैसे जाग्रत् को त्यागकर स्वप्न का आदि साक्षी अनुभवमात्र होता है और उस सत्ता में स्वप्न का शरीर और पदार्थ भासित होते हैं, वे भी आत्मरूप हैं, वैसे ही जो कुछ जाग्रत् शरीर और पदार्थ दिखते हैं, वे आत्मरूप हैं। जब तुम ऐसे जानोगे, तब तुमको कोई दुःख स्पर्श न करेगा। जैसे स्वप्न की सृष्टि में अपने स्वरूप की स्मृति आने से दुःख भी सुख होता है और बोलना-चालना, खाना, पीना, देना, लेना आदि शब्द और अर्थ और द्वैतरूप युद्ध-कर्म सब अद्वैत अपने आप हो जाते हैं, और जीव व्यवहार भी सब करता है, परन्तु उसके अपने निश्चय में कुछ नहीं फुरता, वैसे ही जो पुरुष अपने स्वरूप में जागे हैं, उनको सब जगत् आत्मरूप ही दिखता है। जैसे अग्नि में उष्णता और बरफ़ में शीतलता स्वाभाविक है, वैसे

ही ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि भी स्वाभाविक है। और लोगों को यह दृष्टि यत्न से प्राप्त होती है, पर ज्ञानवान् को स्वाभाविक होती है। जिसको तुम इच्छा कहते हो, वह ज्ञानवान् को सब भ्रमरूप है और अनिच्छा भी ब्रह्मरूप भासित होती है। ज्ञानवान् को आत्मानन्द प्राप्त हुआ है। वह अपने स्वभाव में सदा स्थित है, इससे उसको कोई कल्पना नहीं उठती और वह विद्यमान निरावरण दृष्टि लेकर स्थित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वैतैकताऽभाववर्णनं नाम द्विशताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे स्वप्न में जो पृथ्वी आदि पदार्थ दिखते हैं, वे अविद्यमान हैं—कुछ हैं नहीं, वैसे ही पितामह आदि ब्रह्मा को भी आकाशरूप जानो। वह भी कुछ हैं नहीं, अर्थात् आत्मसत्ता से भिन्न हुए नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुलबुले स्वाभाविक हैं, और तरङ्ग शब्द कहना भी उनको नहीं बनता, वे तो जलरूप हैं, वैसे ही जिनको तुम ब्रह्माजी कहते हो, वह और कोई नहीं, आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। ब्रह्माजी ही विराट् हैं। जैसे पत्ते, फूल, फल और टास वृक्ष के अङ्ग हैं, वैसे ही सब भूत उस विराट् के अङ्ग हैं। जब (विराट्) ब्रह्मा ही आकाशरूप हैं, तब उनके अङ्ग जगत् की वार्त्ता क्या कहिये ? हे राम ! विराट् के न प्राण है, न आकार है, न इन्द्रियाँ हैं, न मन है, न बुद्धि है और न इच्छा है। केवल अद्वैत चिन्मात्र-सत्ता अपने आपमें स्थित है। जब विराट् ही नहीं, तब जगत् कैसे हो ? जो तुम कहो कि आकाशरूप के अंग कैसे दिखते हैं, तो हे राम ! जैसे स्वप्न में बड़े पहाड़ प्रत्यक्ष दिखते हैं, परन्तु कुछ बने नहीं, आकाशरूप हैं, वैसे ही आदि-विराट् भी कुछ बना नहीं, आकाशरूप है। तब उसके अंग में आकाररूप कैसे कहूँ ? सब आकार संकल्पपुर की नाईं कल्पित हैं। एक आत्मसत्ता ही सर्वदा ज्यों की त्यों स्थित है। उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये ? अनुभव और स्मृति भी उसी का आभास है। जैसे समुद्र में तरङ्ग आभास होते हैं, वैसे ही आत्मा में अनुभव और स्मृति भी आभास है। स्मृति भी उसकी होती है,

जिसका प्रथम अनुभव होता है। सो अनुभव भी जगत् में होता है। पर जहाँ जगत् ही न उपजा हो तो अनुभव और स्मृति उसको कैसे हो?

इसलिए न अनुभव है और न स्मृति है। इस कल्पना को त्याग दो। जहाँ पृथ्वी होती है, वहाँ धूल भी होती है। पर जहाँ पृथ्वी से रहित आकाश ही हो, वहाँ धूल कैसे उड़े? इसी प्रकार जहाँ पदार्थ होते हैं, वहाँ स्मृति और अनुभव भी होता है, और जहाँ पदार्थ ही नहीं तो स्मृति और अनुभव कैसे हो? इससे दोनों का अभाव है। राम ने पूछा, हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ! स्मृति का अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है। प्रथम पदार्थ का अनुभव होता है, पीछे उसकी स्मृति होती है और उस स्मृतिसंस्कार से फिर अनुभव होता है। तब ऐसे ही ब्रह्मादिक का क्यों नहीं होता? ये तो प्रत्यक्ष भासित होते हैं? तुम कैसे इनका अभाव कहते हो? और अभाव में विशेषता क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! स्मृति से अनुभव वहाँ होता है, जहाँ कार्य-कारण भाव होता है। ब्रह्मा से लेकर काष्ठपर्यन्त सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह सब आकाशरूप है। कुछ बना नहीं और अविद्यमान ही भ्रम से विद्यमान प्रतीत होता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल का आभास अविद्यमान है, पर भ्रम से जल दिखता है, वैसे ही यह जगत् भ्रम से भासित होता है। स्मृति उसकी होती है, जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव होता है। जो कहिये कि भ्रमादिक स्मृति संस्कार से उपजी है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो ज्ञानवान् स्मृति से नहीं होता, तब उनका स्मृति कारण कैसे कहिये? और दूसरे यह कि इस जगत् के आदि में कोई जगत् न था, जिसकी स्मृति मानिये। इस जगत् के आदि में केवल अद्वितीय आत्मसत्ता थी। उसमें स्मृति क्या और अनुभव क्या? इसलिए ब्रह्मादिक और जगत् किसी कारण-कार्यभाव से नहीं उपजे। अकारण हैं।

हे राम! प्रथम तो तुम यह देखो कि ज्ञानी को जगत् नहीं भासित होता, तब स्मृति किसको कहिये? उसको तो केवल ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे सूर्य को रात्रि की स्मृति नहीं होती, वैसे ही ज्ञानी को जगत् की स्मृति नहीं होती। मेरे निश्चय में तो यह है कि

जगत् न हुआ है और न आगे होगा, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। वह अद्वैत है, और उसी का सब आभास है। जो आभास को सत्य जानते हो तो स्मृति को भी सत्य जानो। और जो आभास को असत्य जानते हो, तो स्मृति को भी असत्य जानो। जैसे स्वप्न में सृष्टि का आभास होता है। और उसमें अनुभव और स्मृति होती है, पर जागने से सृष्टि के अनुभव और स्मृति का अभाव हो जाता है, वैसे ही अद्वैत परमात्मसत्ता के जाग्रत् में अनुभव और स्मृति का अभाव है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जैसे कोई पुरुष मरुस्थल में भ्रम से नदी देखता है, और उसे सत्य जानकर उसकी स्मृति करता है, पर वह नदी तो कुछ नहीं है। जब नदी ही असत्य है तो उसकी स्मृति कैसे सत्य हो, वैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जो जगत् भासित हुआ है, वह जगत् ही जब असत्य है तो उसकी स्मृति और अनुभव कैसे हो ? ज्ञानवान् के निश्चय में ऐसे ही भासित होता है।

हे राम ! स्मृति पदार्थ की होती है। पर पदार्थ कोई नहीं, सब ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। और जैसा-जैसा उनमें फुरना होता है, वैसे ही होकर वे भासित होते हैं। परन्तु और कुछ वस्तु नहीं। जैसे वायु चलता भी है और ठहरता भी है, पर चलने और ठहरने में वायु को कुछ भेद नहीं, वैसे ही ज्ञानवान् को जगत् के फुरने या न फुरने में ब्रह्मसत्ता अभेद भासती है और कारण-कार्य नहीं भासित होता। जसे पत्त, टहनी, फूल और फल, सब वृक्ष के अंग हैं, वैसे ही जगत् आत्मा के अंग हैं। आत्मा में प्रकट होते हैं और फिर आत्मा में ही लीन भी हो जाते हैं। भिन्न कुछ नहीं। जब चित्त में स्वभाव जगता है, तब जगत् होकर भासित होता है। कुछ आरम्भ और परिणाम से नहीं होता—आभासमात्र है।

जैसे घट-पट आदि आत्मा का आभास है, वैसे ही स्मृति भी आभास है। स्मृति भी जगत में उदय हुई है। जब जगत् ही असत्य है तो स्मृति कैसे सत्य हो ? जो यथार्थदर्शी हैं, उनको सब ब्रह्मरूप दिखता है। मुझको न कुछ मोक्ष का उपाय दिखता है और न इसका कोई अधिकारी दिखता है। मेरे निश्चय में अद्वैत ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है।

जैसे नट स्वाँग भरता है, पर सब स्वाँगों को आभासमात्र जानता है, किसी को सत्य नहीं जानता, पर उससे भिन्न कुछ होता नहीं, वैसे ही मुझको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। अज्ञानी के निश्चय को हम नहीं जानते। जिस प्रकार उसके लिए जगत् शब्द है, उसके उस निश्चय को कोई नहीं जानता। मेरे निश्चय में सब चिन्मात्र है। अज्ञानी को जगत् द्वैतरूप दिखता है और उसे विपर्यय भावना होती है और ज्ञानवान् को चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने अनुभव में स्थित होती है और सबका अधिष्ठान अनुभवसत्ता है, परन्तु निद्रादोष से भिन्न-भिन्न भासित होती है, वैसे ही अज्ञानी को जगत् भिन्न-भिन्न लगता है। पर जो जागे हुए ज्ञानवान् हैं, उनको भिन्न कुछ नहीं भासित होता। उनको न अविद्या, न मूर्खता और न मोह भासित होता है। उन्हें सब अपना रूप ब्रह्म-स्वरूप ही दिखता है। जहाँ कुछ दूसरी वस्तु नहीं बनी, वहाँ स्मृति और अनुभव किसका कहिये? यह सभी कलना मिथ्या है।

हे राम! सब अर्थों का जो अर्थभूत है, सो ब्रह्म है। उसी में सब पदार्थ कल्पित हैं। स्मृति और अनुभव मन में होता है। वह मन आत्मा में ऐसे है, जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है। तो उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये? सब कल्पित है। पृथ्वी आदिक तत्त्व आत्मा में कुछ बने नहीं। ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है—ज्ञानवान् को सदा ऐसे ही भासित होता है। आभास भी आत्मा में आभास है और कारण-कार्य भाव कभी नहीं भासित होता। जैसे सूर्य को अन्धकार कभी नहीं दिखता, वसे ही ज्ञानवान् को कारण-कार्यभाव नहीं दिखाइ देता। जैसे स्वप्न के आदि में अद्वैतसत्ता होती है और उसमें अकारण स्वप्न की सृष्टि जग जाती है, वैसे ही अद्वैतसत्ता में अकारण आदि-सृष्टि प्रकट हुई है। न पृथ्वी है और न कोई दूसरा पदार्थ है, सब चिदाकाशरूप है, और कुछ बना नहीं तो आभासमात्र जगत् में स्मृति की कल्पना कैसे हो?

इति नि० वर्णनन्नामद्विशताधिकषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५६ ॥

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जिसमें सब अनुभव होता है, उसके देह में अहंप्रत्यय किस प्रकार होता है ? वह तो सर्वात्मा है। उस सर्वात्मा को एक देह में अहंप्रत्यय क्योंकर होता है, और काष्ठ, पाषाण, पर्वत और चेतनता का अनुभव किस प्रकार हो गया है ? वह तो अद्भुत स्वरूप है। उसमें जड़ और चैतन्य, ये दोनों भेद कैसे हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे शरीर में हाथ आदि अपने अङ्ग हैं और उन सब अङ्गों में एक शरीर का भाव व्यापा हुआ है, पर जो उन अङ्गों में एक अङ्ग को पकड़कर कहे कौन है, तब प्राणी उसका नाम कहता है; तो तुम देखो कि उस एक अङ्ग को भिन्न कहा, परन्तु सब अंगों में उसकी आत्मा का तो नाश नहीं हो जाता है; वैसे ही आत्मा अनुभवरूप है तो भी एक अंग में उसकी आत्मता होते हुए सर्वात्मता खण्डित नहीं हो जाती। जैसे पत्ते, फूल, फल और टहनी आदि सब अंगों में एक ही वृक्ष व्यापा हुआ है परन्तु जो एक टहनी अथवा पत्ते को पकड़कर कहता है कि यह वृक्ष है, तो उसके एक अंग में वृक्षभावना कहने से वृक्ष का सर्वात्मभाव नष्ट नहीं होता, वैसे ही सर्वात्मा का एक देह में अहंभाव सिद्ध होता है। जड़ और चैतन्य, दोनों भाव एक ही ने धारण किये हं और एक ही के दोनों स्वरूप हैं।

जैसे एक ही शरीर में दोनों सिद्ध होते हैं, तथा हाथ, पाँव आदि जड़ हैं और नेत्र इसके द्रष्टा चेतन हैं, सो एक ही शरीर दोनों हैं और दोनों एक ही शरीर के स्वरूप हैं, वैसे ही एक आत्मा ने दोनों धारण किये हैं और एक ही के स्वरूप हैं। जैसे वृक्ष अपने अंग को रखता है और वृक्ष स्वभाव को भी रखता है, वैसे ही सर्वात्मा सबको धारण करता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि को अनुभव ही धारण करता है और सब क्रियाओं को भी धारण करता है, वैसे ही आत्मसत्ता सब जगत् और जगत् की सब क्रिया को धारण करती है, क्योंकि वह सर्वात्मा है और जो सर्वात्मा है वह क्यों न धारण करे ? जैसे एक ही समुद्र में अनेक तरंग उठते हैं, परन्तु सभी समुद्र के आश्रित हैं और वही रूप हैं, वैसे ही सब जीव परमात्मा में प्रकट होते हैं। परमात्मा के आश्रित

हैं और वही रूप हैं। जैसे तरंग अपने को जाने कि मैं जल ही हूँ तो उसकी तरंग संज्ञा जाती रहती है, जलरूप ही दिखता है, वैसे ही जीव जब परमात्मा से अपने को अभिन्न जाने, जाने कि 'मैं आत्मा ही हूँ' तब उसके जीवत्वभाव का अभाव हो जाता ह, परमात्मा ही दीखता है।

हे राम! जैसे जल में द्रवता से तरङ्ग उठते हैं, परन्तु तरङ्ग जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, वैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन से आदि-ब्रह्मा उपजे हैं और उन्होंने इस जगत् की मनोराज्य से कल्पना की है। वह आकाशरूप निराकार हैं और कुछ बना नहीं। जो विराट् ही आकाश-रूप हुआ तो उसका शरीर कैसे साकार हो? वह भी निराकार है। जैसे अपना अनुभव स्वप्न में पर्वत, नदियाँ, जड़ और चैतन्य होकर दिखता है, वैसे ही सब जगत् जो दिखता है, वह भी आत्मरूप है। हे राम! जैसे एक निद्रा के दो स्वरूप हैं—स्वप्न और सुषुप्ति, वैसे ही एक ही आत्मा ने जड़ और चैतन्य, दो स्वरूप धारण किये हैं। जगत् आत्मा में कुछ बना नहीं, यह आभासरूप है, और आत्मसत्ता ही अपने किञ्चन द्वारा जगत्रूप होकर दिखाई देती है। जैसे आकाश में घन शून्यता के कारण नीलता दिखती है, सो वह अविचारसिद्ध है—नीलता कुछ बनी नहीं, वैसे ही आत्मा में घन चैतन्यता से जगत् दिखता है, परन्तु जगत् का आकार कुछ बना नहीं, सर्वदा आत्मा अद्वैत निराकार है।

अनन्त सृष्टि आत्मा में आभासरूप उपज कर लीन हो जाती है, और आत्मा ज्यों का त्यों है। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर लीन हो जाते हैं, परन्तु जलरूप हैं, वैसे ही परब्रह्म में सृष्टि परब्रह्मरूप है। हे राम! यह जगत् विराट् का शरीर है। महाकाश उसका शीश है। दसों दिशा उसकी भुजा हैं। पृथ्वी उसके चरण हैं। पातालरूप तली हैं। मध्यलोक अन्तरिक्ष उदर है। सब जीव उसकी रोमावली हैं। और सब पदार्थ विराट् के अंग हैं। वह विराट् आकाशरूप है। जैसे विराट् ब्रह्माजी आकाशरूप हैं, वैसे ही उनका जगत् भी आकाशरूप है। इससे सब जगत् विराट्रूप है। वह ब्रह्म ही है, और कुछ बना नहीं। चन्द्रमा

और सूर्य उसके नेत्र हैं। मुझसे और तुमसे लेकर सब शब्दों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म मैं हूँ। जिसमें दूसरा बना नहीं, सदा मैं अपने ही आपमें स्थित हूँ। हे राम! शून्यवादी पांचरात्रिक, शैव, शक्ति आदि जो शास्त्र हैं, उन सबका अधिष्ठान ब्रह्मरूप है, और सबका साररूप वही सर्वात्मरूप है। जैसा किसी को निश्चय होता है, वैसा ही उसको वह सर्वरूप होकर फल देता है। और कुछ बना नहीं।

इति श्रीयो० ब्रह्मजगदेकताप्रति० नामद्विशताधिकसप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! इस जगत् के आदि में शुद्ध ब्रह्मसत्ता थी। उसमें जो जगत् का आभास फुरा है, उसको भी तुम वही स्वरूप जानो। जैसे स्वप्न में आदि-अनुभव आकाश होता है, और उसमें स्वप्न की सृष्टि प्रकट होती है, सो वह अनुभवरूप है, भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है, भिन्न नहीं। जैसे समुद्र द्रवता से तरंगरूप होकर दिखता है, वैसे ही चैतन्य ब्रह्म जगत्रूप होकर भासित होता है। सो यह जगत् भी वही रूप है। हे राम! वास्तव में कोई दुःख नहीं है। दुःख और सुख अज्ञान से प्रतीत होते हैं। जैसे एक निद्रा में दो वृत्तियाँ दिखती हैं—एक स्वप्नवृत्ति और दूसरी सुषुप्तिवृत्ति; वैसे ही अज्ञानी की दो वृत्तियाँ होती हैं—सुख की और दुःख की। किन्तु ज्ञानवान् ब्रह्मरूप है। जैसे कोई पुरुष स्वप्न से जाग उठता है तो उसको स्वप्न की सृष्टि असत्रूप दिखती है, वैसे ही ज्ञानवान् को यह सृष्टि असत्य दिखती है। जैसे जिसने मरुस्थल की नदी के जल का अत्यन्ताभाव जाना है, वह जलपान की इच्छा नहीं करता, वैसे ही सम्यक्दर्शी पुरुष जगत् को असत्य जानता है, इसलिए वह जगत् के पदार्थों की इच्छा भी नहीं करता। जो असम्यक्दर्शी हैं, उनको जगत् सत्य प्रतीत होता है और वे किसी पदार्थ को ग्रहण करते हैं और किसी का त्याग करते हैं।

हे राम! परमात्मा ईश्वर है। उसमें जगत् इसी प्रकार है, जैसे समुद्र में तरंग होते हैं। जैसे समुद्र और तरंग में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। जो तुम कहो कि अविद्या ही जगत् का कारण है तो अविद्या जगत् का कारण तब कहलाती, जब वह जगत् से प्रथम

सिद्ध होती, पर अविद्या तो अविद्यमान है। जैसे परमात्मा में जगत् आभासमात्र है, वैसे ही अविद्या भी आभासमात्र है। जो आप ही आभासमात्र हो, उसे जगत् का कारण कैसे कहिये? जगत् आभास और अविद्या का आभास इकट्ठा ही जगा है। जैसे स्वप्न में सृष्टि दिखती है और उसमें घट-पटादि पदार्थ दिखते हैं। वे किसी कुम्हार ने मृत्तिका लेकर तो नहीं बनाये। जैसे घट उपजा है, वैसे ही कुम्हार और मृत्तिका भी उपजे हैं। जैसे इन सबका भासित होना इकट्ठा ही होता है, वैसे ही जगत् और अविद्या एक साथ ही उपजे ह। अविद्या पहले तो सिद्ध नहीं होती, तब उसको जगत् का कारण कैसे मानिये? हे राम! परमात्मा से जगत् और अविद्या एक साथ ही आभासमात्र उपजे हैं, पर वह आभास कुछ वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। न कहीं अविद्या है, न जगत् है। आत्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों स्थित है। हे राम! निर्विकल्प में जगत् का अत्यन्ताभाव होता है, तब निर्विकल्प कैसे हो? जब निर्विकल्प होता है, तब जड़ता आती है और जब विकल्प उठता है, तब संसार उदय होता है। जब ध्यान लगाता है, तब ध्याता, ध्यान और ध्येय त्रिपुटी हो जाती है। इस प्रकार तो निर्विकल्पता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि निर्विकल्प से भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। निर्विकल्प वह है, जहाँ चित्त की वृत्ति न फुरे। पर तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ भी अभाव वृत्ति सुषुप्त सी रहती है। सुषुप्तरूप जड़ात्मक है। सविकल्प सुषुप्ति में भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए सम्यक् बोध का नाम निर्विकल्प है।

जिसको सम्यक्‌बोध निर्विकल्पता से जगत् का अत्यन्ताभाव हुआ है, वह जीवन्मुक्त है। वही निर्विकल्प पद कहाता है और वही परम जड़ता है, जहाँ जगत् का होना असम्भव है। हे राम! निर्विकल्प और सविकल्प स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये दोनों मन की वृत्तियाँ हैं। जैसे एक निद्रा की वृत्ति स्वप्न और सुषुप्तिरूप है, वैसे ही यह निर्विकल्प और सविकल्प मन की वृत्ति है। निर्विकल्प सुषुप्तिरूप और

पत्थर सदृश है और सविकल्प स्वप्नसदृश चञ्चलरूप है। निर्विकल्प में भी अभाववृत्ति रहती है, इससे उससे भी मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तब होती है, जब दृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। हे राम! जहाँ आत्म-अनुभव में आकाश से इतर उत्थान नहीं होता—उसका नाम अत्यन्त सुषुप्ति निर्विकल्पता है। हे राम! ऐसे होकर तुम चेष्टा करोगे, तो भी तुमको कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान न होगा। आत्मा को अद्वैत और जगत् का अत्यन्ताभाव जानने ही का नाम बोध है। जब बोध और ध्यान की दृढ़ता हो, उसका नाम परमपद है। उसी का नाम निर्वाण है और उसी को मोक्ष भी कहते हैं। जो पद किञ्चन और अकिञ्चन है और सर्वदा अपने आपमें स्थित है, उसमें न नानात्व कहना है, न अनाना शब्द है। न सविकल्प है, न निर्विकल्प है। वह न सत्य है, न असत्य है। न एक है और न दो। उसमें सब शब्दों का अन्त है और किसी शब्द से वाणी प्रवृत्त नहीं होती। उसी सत्ता को प्राप्त होने का उपाय मैं कहता हूँ।

हे राम! यह मोक्ष का उपाय ग्रन्थ जो मैंने तुमसे कहा है, इसको विचारना। जो पुरुष अर्धप्रबुद्ध और पदपदार्थ जाननेवाला है, उसको यदि मोक्ष की इच्छा है तो वह इस ग्रन्थ को विचारता है, शुभ आचार करके बुद्धि को निर्मल करता है और अशुभ क्रिया का त्याग करता है। तब उसको शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे राम! जो मोक्ष का उपाय शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है, वह तीर्थ-स्नान, तप और दान से नहीं प्राप्त होता। तप, दानादिक करके स्वर्ग प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं मिलता। मोक्षपद अध्यात्मशास्त्र के अर्थ के अभ्यास से ही प्राप्त होता है। यह जगत् आभासमात्र है। वही ब्रह्मसत्ता जगत्रूप होकर भासित होती है। जैसे जल ही तरङ्गरूप होकर दिखता है और वायु ही स्पन्दन-रूप है, वैसे ही ब्रह्म जगत्रूप होकर भासित होता है। जैसे स्पन्दन और निस्स्पन्द में वायु ज्यों की त्यों है, परन्तु स्पन्दन होता है, तब भासित होती है, और निस्स्पन्द होती है तब नहीं भासित होती, वैसे ही ब्रह्म में संवेदन फुरता है, तब जगत् होकर भासित होता है और जब निर्वेदन

होता है और अन्तर्मुख अधिष्ठान की ओर आता है, तब जगत् समेटा जाता है। परन्तु संवेदन के फुरने में भी वही है और न फुरने में भी वही है।

इसलिए हे राम ! सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म से इतर कुछ नहीं बना। और जो इतर भासित होता है उसे भ्रममात्र ही जानना। जब आत्मपद का अभ्यास होता है, तब भ्रान्ति शान्त हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मपद के अभ्यास से भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की सृष्टि दिखती है, परन्तु कुछ हुई नहीं। जैसे स्वप्न में सृष्टि दिखती है, परन्तु कुछ बनी नहीं, वही अनुभवरूप आत्मसत्ता सृष्टि-आकार होकर दिखती है, वैसे ही यह जगत् सब अनुभवरूप है। जैसे रत्न और रत्न की चमक में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे राम ! तुम निश्चय करके स्वभाव को देखो, तो भ्रम मिट जावेगा। सृष्टि, स्थिति और प्रलय, सब उसी की संज्ञा हैं, दूसरी वस्तु कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतापरमनिर्वाणवर्णनन्नाम द्विशताधिकाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ये सब आकार जो तुमको दिखते हैं, संवेदनरूप हैं, कुछ बने नहीं। सृष्टि के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी; अन्त में भी वही रहती है और मध्य में जो आकार दिखते हैं, उन्हें भी वही रूप जानो। जैसे स्वप्न की सृष्टि के आदि में जो शुद्ध संवित् होती है और उसमें आकार प्रकट होता है, वह भी अनुभवरूप है, और कुछ नहीं बना, आत्मसत्ता ही पिण्डाकार होकर भासित होती है, और जितने पदार्थ दिखते हैं, सो आकाशरूप आभासमात्र हैं। आत्मसत्ता सदा शुद्ध है, परन्तु अज्ञान से अशुद्ध की नाईं लगती है; विकार से रहित है, परन्तु विकारसहित लगती है; अनाना है परन्तु नाना की नाइ दिखती है और आकार से रहित है परन्तु आकार-सहित प्रतीत होती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपना अनुभवरूप होती है, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से नाना प्रकार की भिन्न-भिन्न भासित होती है और जागने पर एक आत्मरूप हो जाती है, वैसे ही यह सृष्टि भी अज्ञान से नाना

प्रकार की भासित होती है और ज्ञान से एकरूप भासित होती है। विद्यमान लगती है, पर उसे असत्य ही जानो। आत्मसत्ता सदा शुद्धरूप, शान्त और अनन्त है। उसमें देश, काल और पदार्थ आभासमात्र हैं।

जो तुम कहो कि आभासमात्र है तो अर्थाकार क्यों होते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न में कोई नारी गले से लगती है और उसमें प्रत्यक्ष राग और विषयरस होता है, सो वह आभासमात्र होता है, वैसे ही जाग्रत् में विषय, क्षुधा को अन्न, तृषा को जल और और भी सब ऐसे ही होते हैं, और सब पदार्थ प्रत्यक्ष लगते हैं, पर जो इनका कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं मिलता। जिसका कोई कारण न मिले, उसे आभासमात्र जानिये। हे राम! यह जगत् बुद्धिपूर्वक नहीं बना। आदि में जो आभास जगा है, वह बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ। उसमें जब जगत् का संकल्प दृढ़ हुआ है, तब कारण से कार्य भासित होने लगा। परन्तु जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है, उनको कारण से कार्य दिखने लगे। पर जो आत्मस्वभाव में स्थित हैं, उनको सब जगत् आत्मस्वरूप है। हे राम! कारण से कार्य तब हो, जब पदार्थ भी कुछ वस्तु हो। जैसे पिता की संज्ञा तब होती है, जब पुत्र होता है, और जो पुत्र ही न हो तो पिता कैसे कहिये? वैसे ही कारण तब कहिये जब कार्य हो। जो कार्य जगत् ही कुछ नहीं, तो कारण कैसे कहिये?

हे राम! कारण और कार्य अज्ञानी के निश्चय में होते हैं। जैसे चरखे पर बालक घूमता है तो उसको सब पृथ्वी घूमती लगती है, वैसे ही अज्ञानी को मोह दृष्टि से कारण-कार्यभाव दिखता है, पर ज्ञानी को कारण-कार्य भाव नहीं भासित होता। स्मृति को भी जगत् का कारण तब कहिये, जब स्मृति जगत से पहले हो। पर स्मृति अनुभव भी जगत् में ही उपजे हैं। ये भी आभासमात्र हैं। परन्तु जिनको प्रतीत हुए हैं उनको वैसे ही हैं। हे राम! स्मृति, संस्कार और अनुभव, ये तीनों आभासमात्र हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासित होता है, वैसे ही आत्मा में तीनों भासित होते हैं। इसलिए इस कलना को त्यागकर

जगत् का आभासमात्र जानो। जैसे स्वप्न में घट दिखते हैं, पर उनका कारण मृत्तिका को कहिये तो नहीं बनता, क्योंकि घट और मृत्तिका का आभास इकट्ठा जगा है, इसलिए वे आभासमात्र हुए। उनमें कारण किसे कहिये और कार्य किसे कहिये। वैसे ही स्मृति, संस्कार, अनुभव और जगत् सब इकट्ठे प्रगटे हैं, इनमें कारण किसे कहिये और कार्य किसे कहिये ? इसलिए सब जगत् आभासमात्र है।

हे राम ! यह सब जगत् जो तुमको दिखता है, वह आत्मसत्ता का आभास है; आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। जैसे नेत्र का खोलना और मूँदना होता है, वैसे ही परमात्मा में जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होता है। जब चित्तसंवेदन फुरता है, तब जगत्रूप दिखता है और जब फुरने से रहित होता है, तब जगत् का आभास मिट जाता है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जैसे खुलना और मूँदना नेत्रों का स्वभाव है, वैसे ही फुरना और न फुरना संवेदन के स्वभाव हैं। जैसे चलना और ठहर जाना दोनों वायु के स्वभाव हैं, जब चलती है तब जान पड़ती है और जब नहीं चलती तब नहीं जान पड़ती। चलने में वायु की तीन संज्ञा होती हैं—एक मन्द-मन्द चलती है अथवा बहुत चलती है; दूसरी का शीतल अथवा उष्ण स्पर्श होता है और तीसरी सुगन्ध अथवा दुर्गन्धयुक्त होती है। ये तीनों संज्ञा फुरने में होती हैं। पर जब फुरने से रहित होती है, तब तीनों संज्ञा मिट जाती हैं। जैसे एक ही अनुभव में स्वप्न और सुषुप्ति की कल्पना होती है। स्वप्न में जगत् ही भासित होता है और सुषुप्ति में नहीं भासित होता, परन्तु दोनों में अनुभव एक ही है—वैसे ही संवित् के फुरने से जगत् भासित होता है और ठहरने में अच्युतरूप हो जाता है। पर आत्मसत्ता ज्यों की त्यों एकरूप है। इसलिए जो कुछ जगत् दिखता है, वह आत्मा से भिन्न नहीं, वही रूप है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, तीनों आत्मा के आभास हैं—उनमें आस्था न करना।

हे राम ! मैंने इस परम सिद्धान्त का तुमको उपदेश किया है। जिन युक्तियों से कहा है, वैसी कोई नहीं कहेगा। अज्ञानी को संसाररूपी

बड़ी भ्रान्ति उदय हुई है, परन्तु जो मेरे शास्त्रको बारम्बार विचारेगा, उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। दिन के दो विभाग करे। आधे दिन तक मेरा शास्त्र विचारे और आधा दिन अपने आचार में व्यतीत करे। जो आधे दिन इस शास्त्र का विचार न कर सके तो एक पहर ही विचारे। जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार निवृत्त होता है, वैसे ही उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो मेरे वचनों को वृथा जानकर उनकी निन्दा करेगा, उसको आत्मपद की प्राप्ति न होगी, क्योंकि उसने शास्त्र के तत्त्व को नहीं जाना। जीव का यह कर्तव्य है कि प्रथम और शास्त्रों को विचार ले, फिर पीछे से इसको विचारे, जिसमें उसे इस शास्त्र की महिमा ज्ञात हो। हे राम! यह मोक्षोपाय शास्त्र आत्म-बोध का परम कारण है। यदि जीव पदपदार्थों का जाननेवाला हो और इस शास्त्र को बारम्बार विचारे तो उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो सम्पूर्ण ग्रन्थ के आशय को न समझ सके तो थोड़ा-थोड़ा बाँचे और विचारे तो उसको सब समझ पड़ेगा।

हे राम! यदि मनुष्य कुछ भी पदार्थ जानता है तो इसके विचारने और पढ़ने से बुद्धिमान् हो जाता है और इस शास्त्र में उसे प्रीति होती है। इसको विचारनेवाले की बुद्धि और शास्त्रों की ओर नहीं जाती, इससे यह विचारने योग्य है। जो पुरुष आत्मविचार से रहित है, उसका जीवन वृथा है। जिनको यह तत्त्व विचार है, उनको सब पदार्थ आत्म-रूप हो जाते हैं। जो एक साँस भी आत्मविचार से रहित होती है, वह वृथा जाती है। मनुष्य की ऐसी एक साँस के समान सम्पूर्ण पृथ्वी का धन भी नहीं है। यदि एक साँस निष्फल जाय तो फिर माँगे नहीं मिलती। ऐसी साँस को जो वृथा गँवाते हैं, उनको तुम पशु जानो। हे राम! आयु बिजली की चमक के समान है। जैसे बिजली की चमक तुरन्त मिट जाती है, वैसे ही आयु नष्ट हो जाती है। ऐसे शरीर को पाकर जो सुख की तृष्णा करते हैं, वे महामूर्ख हैं। हे राम! यह सम्पूर्ण जगत् आभासमात्र है। सत्य लगता है तो भी इसको असत्य जानो। जैसे स्वप्न की सृष्टि में कोई मृतक होता है, उसके बान्धव रुदन करते हैं

और इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, परन्तु हुआ कुछ नहीं, सब भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस जगत् को भ्रममात्र जानो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थगीतावर्णनं नाम द्विशताधिकैकोनषष्टितमस्सर्गः॥ २५९॥

राम ने पूछा! हे भगवन्! जगत् तो अनेक और असंख्य हुए हैं और आगे होंगे, पर उन जगतों की कथाओं से आपने मुझे उपदेश करके क्यों न जगाया? वशिष्ठजी बोले, हे राम! ये जो जगज्जाल के समूह हैं, उनमें जो पदार्थ हैं, वे सब शब्द-अर्थ से रहित हैं। और जब शब्द-अर्थ से रहित हुए तो कुछ न हुए। इसलिए व्यर्थ कहने का क्या प्रयोजन है? हे राम! जब तुम विदितवेद और निर्मल त्रिकालदर्शी होगे, तब इन जगतों को स्वयं जानोगे। मैंने पहले भी तुमसे बहुत बार कहा है। बारम्बार वही वर्णन करने में पुनरुक्ति दोष होता है। परन्तु समझाने के लिए मैंने ऐसा किया है। जैसे एक सृष्टि को जाना, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टियों को जानो। जैसे अन्न के ढेर से एक मुट्ठी भर को देखकर जान लिया जाता है कि सब दाने ऐसे ही हैं, वैसे ही एक ही सृष्टि का यथार्थ स्वरूप जाना तो सब सृष्टियों को भी जान लिया। हे राम! यह सब जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जिसमें कारण बिना पदार्थ भासित हो, उसे जानिये कि वही रूप है। सृष्टि के आदि में भी वही सत्ता थी; अन्त में भी वही होगी और मध्य में जो कुछ दिखता है, उसे भी वही रूप जानिये। स्वप्न के आदि में भी अपना निर्मल अनुभव होता है, स्वप्न के निवृत्त होने पर भी वही रहता है। और स्वप्न के बीच जो पदार्थ भासित होता है, उसे भी वही जानिये। और वस्तु कुछ नहीं, अनुभवसत्ता ही इस प्रकार भासित होती है। जब तुम विदितवेद होगे, तब सब जगत् तुमको अपना रूप भासित होगा। हे राम! एक-एक अणु में अनेक सृष्टियाँ हैं। वे सब आकाशरूप हैं, कुछ हुई नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ, उसे सुनो। एक समय मैंने ब्रह्माजी को एकान्त में पाकर प्रश्न किया कि हे भगवन्! ये सृष्टियाँ कितनी हैं और किसमें हैं?

तब पितामह ने कहा, हे मुनीश्वर! सब जगतों के सब शब्द-अर्थ ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं। जो अज्ञानी हैं, उनको नाना प्रकार का जगत् दिखता है, और जो ज्ञानवान् हैं, उनको सब जगत् आत्मरूप भासित होता है। जिस प्रकार जगत् हुआ है, वह भी सुनो। हे राम! ब्रह्मरूपी आकाश के सूक्ष्म अणु में स्फुरण हुआ कि 'अहमस्मि' (मैं हूँ)। तब उस अणु ने अपने को जीव जाना। जैसे अपने स्वप्न में अपने को जीव जाने और सर्वात्मा हो, वैसे ही चित् अणु सर्वात्मा अहंकार को अङ्गीकार करके अपने को जीव जानने लगा। उसमें जो निश्चय हो गया, वही बुद्धि हुई। जैसे वायु में स्फुरण होता है, वैसे ही उसमें संकल्प-विकल्परूपी स्फुरण हुआ। उसका नाम मन हुआ। तब मन के साथ मिलकर चित्अणु ने देह को चेता और उसे अपने में देह और इन्द्रियाँ भासित होने लगीं। उसने अपने साथ शरीर देखा कि यह शरीर मेरा है। जैसे स्वप्न में अपने साथ कोई शरीर को देखे और बड़ा स्थूल देख पड़ें, वैसे ही उसने अपने साथ स्थूल शरीर देखा। जैसे स्वप्न में सूक्ष्म अनुभव से बड़े पर्वत दिखते हैं, वैसे ही सूक्ष्म अणु से स्थूल विराट् शरीर भासित होने लगा। फिर देश-काल की कल्पना की, तब नाना प्रकार के स्थावर-जंगम प्राणी और विराट् भासित होने लगा। जैसे स्वप्न में दिखनेवाले देश, काल और पदार्थ कुछ नहीं हैं, वैसे ही देश-काल पदार्थ भासित हुए, परन्तु हैं कुछ नहीं। जब चित्तसंवित बहिर्मुख जगती है, तब नाना प्रकार का जगत् दिखता है, और जब अन्तर्मुख होती है, तब अवाच्यरूप हो जाती है। जैसे वायु चलने और ठहरने में एकरूप होती है, वैसे ही फुरने और न फुरने में संवित एक तथा अभेद है।

हे राम! सब जगत् आकाश में आकाशरूप अपने आपमें स्थित है और अणु-अणु प्रति सर्वदा सृष्टि है। परन्तु सब आभासमात्र है। जो चैत्य सम्बन्धी होकर जीव सृष्टि का अन्त ले तो सृष्टि अनन्त है। इसका अन्त कहीं नहीं आता। यह सृष्टि अविद्यारूप है। वह अविद्या ही चैत्य है। जब जीव अविद्यासम्बन्धी होकर जगतों का अन्त देखेगा, तब

अन्त कहीं न आवेगा। किन्तु संसरण का नाम संसार है। जब स्वरूप में स्थित होगे, तब सब जगत् ब्रह्मरूप हो जावेगा और जगत् की कल्पना कुछ न भासित होगी। हे राम ! इस जगत् के आदि में भी अद्वैतसत्ता थी, अन्त में भी अद्वैतसत्ता रहेगी और मध्य में जो कुछ दिखता है, उसको भी वही रूप जानो, और कुछ बना नहीं। यह जगत् अकारण है, अधिष्ठानसत्ता के अज्ञान से भासित होता है। इसी का नाम जगत् और इसी का नाम अविद्या है। अधिष्ठान को जानने का नाम विद्या है। हे राम ! न कोई अविद्या है और न जगत् है, ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। चाहे जगत् कहो और चाहे ब्रह्म कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम
द्विशताधिकषष्टितमस्सर्गः ॥ २६० ॥

राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह मैंने जाना कि जगत् अकारण है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर होता है, वैसे ही यह जगत् है। पर जो अकारण ही है तो अब यहाँ सब पदार्थ कारण से उपजते क्यों देख पड़ते हैं ? कारण विना तो नहीं होते; फिर ये क्यों भासित होते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ब्रह्मसत्ता सर्वात्म है। उसमें जैसा निश्चय होता है, वैसा ही होकर दिखता है। पर क्या दिखता है ? अपना अनुभव ही ऐसे होकर दिखता है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नाना प्रकार के पदार्थ होकर दिखता है, परन्तु उपजा कुछ नहीं, सब पदार्थ आकाशरूप हैं, वैसे ही यह जगत् कुछ उपजा नहीं, कारण से रहित आकाशरूप है। हे राम ! आदि-सृष्टि अकारण हुई है; पीछे से सृष्टि में आभासरूप मन ने जैसा-जैसा निश्चय किया है, वैसा ही दिखता है, क्योंकि मन सर्व-शक्तिरूप है। आदि-सृष्टि जो उपजती है, वह अकारणरूप है। पीछे से सृष्टिकाल में कारण-कार्यरूप हुए हैं। जैसे स्वप्न-सृष्टि आदि कारण विना होती है और पीछे से कारण-कार्य दिखते हैं, पर वास्तव में न कोई आकाश है, न शून्य है, न अशून्य है, न सत्य है, न असत्य है, न असत्य सत्य के मध्य है, न नित्य है, न अनित्य है, न परम है,

न अपरम है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है। द्वैत कुछ नहीं, सब भ्रम है। हे राम! ज्ञानवान् को सब शब्द और अर्थ ब्रह्मरूप भासित होते हैं। मुझको तो कारण-कार्य-भाव की कल्पना कुछ नहीं। जैसे सूर्य में अन्धकार का अभाव है, वैसे ही ज्ञानवान् के लिए कारण-कार्य का अभाव है। जो सब आत्मा ही है तो कारण या कार्य किसको कहिये?

राम ने कहा, हे भगवन्! मैं ज्ञानी की बात पूछता हूँ। उनको कारणकार्यभाव किस कारण नहीं भासित होता? जो कारण-कार्य नहीं तो मृत्तिका और कुम्हार आदि द्वारा घटादिक क्योंकर उत्पन्न होते देख पड़ते हैं? बताइए ज्ञानवान् को अकारण कैसे दिखता है और अज्ञानी को सकारण क्योंकर भासित होता है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! न कोई कारण है, न कार्य है और न कोई अज्ञानी है। मैं तुमसे क्या कहूँ? जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनके निश्चय में जगत् की कोई कल्पना नहीं फुरती। उनके निश्चय में तो जगत् है ही नहीं। तब ज्ञानी और अज्ञानी क्या? हे राम! आकाश में वृक्ष ही नहीं तो उसका वर्णन क्या कीजिये? जैसे हिमालय पर्वत में अग्नि का कण नहीं पाया जाता, वैसे ही ज्ञानी के निश्चय में जगत् नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानी, कारण और कार्य, ये शब्द जगत् में होते हैं। पर जब जगत् ही नहीं उपजा तो कारण, कार्य, ज्ञानी और अज्ञानी तुमसे क्या कहूँ? जैसे स्वप्न की सृष्टि सुषुप्ति में लीन हो जाती है और वहाँ शब्द और अर्थ कोई नहीं फुरता, वैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में जगत् ही नहीं फुरता। हे राम! मुझको तो सब ब्रह्म ही भासित होता है। मुझको कुछ कहना नहीं। परन्तु तुमने पूछा है, इसलिए अज्ञानी के निश्चय को अङ्गीकार करके कुछ कहता हूँ।

हे राम! यह जगत् अकारण और आभासमात्र है; किसी आरम्भ और परिणाम से नहीं हुआ। जब पदार्थों का कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान ब्रह्म ही निकलता है। वह अद्वैत, अच्युत और सब इच्छाओं से रहित है। तब उसको कारण कैसे कहिये? इससे जाना जाता है कि जगत् आभासमात्र है। और कुछ वस्तु नहीं, आत्मसत्ता

ही इस प्रकार भासित होती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण होती है और उसमें अनेक पदार्थ दिखते हैं, पर उसका कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान अनुभव ही निकलता है। उसमें आरम्भ और परिणाम कुछ नहीं हुआ। सृष्टि अनुभवरूप भासित होती है। जो पुरुष स्वप्न देख रहा है, उसको स्वरूप के प्रमाद से कारण, कार्य, जगत् और पुण्य, पाप सब यथार्थ लगते हैं, वैसे ही यह जाग्रत् जगत् दिखता है। हे राम! आदि सृष्टि अकारण हुई है। पीछे सृष्टिकाल में कारण-कार्यरूप भासित होते हैं। जिसको अपना वास्तव स्वरूप स्मरण है, उसको अकारण दिखती है और जिस अज्ञानी को अपने वास्तव स्वरूप का प्रमाद है, उसको कारण-कार्यरूप सृष्टि भासित होती है। हे राम! वास्तव में एक ही अनुभव आत्मसत्ता है, परन्तु जैसा-जैसा अनुभव में संकल्प दृढ़ होता है, उसी की सिद्धि होती है, और जिसका तीव्र संवेग होता है, वही होकर दिखता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कल्पवृक्ष के पदार्थ संकल्प की तीव्रता से प्रत्यक्ष होते हैं। तो उन्हें किसका कार्य कहिये? यदि जगत् किसी कारण से उत्पन्न होता तो महाप्रलय में भी कुछ शेष रहता—जैसे अग्नि के पीछे राख रह जाती है, पर जगत् के पीछे तो कुछ नहीं रहता। जैसे स्वप्न की सृष्टि जागने पर कुछ नहीं रहती, वैसे ही महाप्रलय में जगत् का शेष कुछ नहीं रहता। इससे जाना जाता है कि यह जगत् आभासमात्र है।

जैसे ध्यान में ध्याता पुरुष किसी आकार को रचता है तो उसका कारण कोई नहीं होता, वह तो आकाशरूप है और अनुभवसत्ता ही फुरने से इस प्रकार होकर भासित होती है—आकार तो कोई नहीं, और जैसे गन्धर्वनगर कारण से रहित दिखता है, वैसे ही यह जगत् कारण विना प्रकट हुआ है। न कोई पृथ्वी है, न कोई जल है। न तेज, वायु और आकाश है। सब आकाशरूप है। परन्तु संकल्प की दृढ़ता से पिण्डाकार भासित होते हैं। हे राम! जब मनुष्य मर जाता है, तब शरीर यहीं भस्म हो जाता है, फिर जीव परलोक में अपने साथ शरीर देखता है और उस शरीर से स्वर्ग-नरक में सुख-दुःख भोगता है,

तो उसका कारण कौन है ? उसका कारण कोई नहीं पाया जाता। केवल चेतनता में संकल्परूप वासना जो दृढ़ हुई है, उसी के अनुसार शरीर भासित होता है और स्वर्ग-नरक में दुःख-सुख भासित होते हैं। और तो कुछ वस्तु नहीं। सब पदार्थ संकल्प के रचे हुए हैं। वे सब आत्मरूप हैं। जैसे आकाश, व्योम और शून्य एक ही वस्तु के नाम हैं, वैसे ही कोई जगत् कहो और कोई ब्रह्म कहो, इनमें भेद नहीं। फुरने का नाम जगत् है और न फुरने का नाम ब्रह्म है। जैसे वायु के चलने और ठहरने में भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म को संवेदन के फुरने और न फुरने में भेद कुछ नहीं। जो सम्यक्दर्शी हैं, उनको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप दिखता है, इस कारण दोष किसी में नहीं रहता। और जो बड़ा कष्ट प्राप्त होता है तो भी उन्हें खेद नहीं होता।

जैसे कोई पुरुष स्वप्न में युद्ध करता है और उसको अपना जाग्रत् स्वरूप स्मरण हो आता है, तो वह स्वप्न को स्वप्न जानता हुआ युद्ध करता है तो भी दुःख नहीं होता, वैसे ही जो पुरुष परमपद में जागा है, उसकी सब क्रियाएँ होती हैं, परन्तु वह अपने को अक्रिय जानता है। हे राम ! ज्ञानवान् की सब चेष्टाएँ होती हैं, परन्तु उसके निश्चय में क्रिया का अभिमान नहीं होता। जैसे नट सब स्वाँग भरता है, परन्तु अपने को स्वाँग से अलग और स्वाँग की क्रिया को असत्य जानता है, क्योंकि उसको अपना स्वरूप स्मरण रहता है, वैसे ही ज्ञानवान् सब क्रियाओं को असत्य जानता है। हे राम ! ये सब पदार्थ अजातजात हैं—उपजे नहीं। जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखते हैं, परन्तु उपजे नहीं, अपना अनुभव ही इस प्रकार दिखता है, वैसे ही ये जगत् के पदार्थ भी अनुभवरूप जानो। हे राम ! बहुत शास्त्र और वेद में तुमको किस लिए सुनाऊँ और किस लिए पढ़ूँ ? वेदान्त शास्त्रों का सिद्धान्त यही है कि वासना से रहित हो। इसी का नाम मोक्ष है। वासनासहित का नाम बन्धन है। वासना किसकी कीजिये ? यह सब सृष्टि तो अकारण भ्रममात्र है। इसमें क्या आस्था बढ़ाइये ? ये विषय तो स्वप्न के पर्वत हैं।

इति श्रीयो० नि० ब्रह्मगीतावर्णनंनामद्विशताधिकैकषष्टितमस्सर्गः २६१

श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन् ! सब जगतों में तीन प्रकार के पदार्थ हैं—एक अप्रत्यक्ष पदार्थ, दूसरे प्रत्यक्ष पदार्थ और तीसरे मध्यभावी। जैसे वायु अप्रत्यक्ष है, क्योंकि रूप से रहित है, परन्तु स्पर्श से प्रतीत होती है, इसलिये मध्यभावी प्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्ष वह जो किसी को मिले नहीं। ऐसी यह संवित् अप्रत्यक्ष है। हे मुनीश्वर ! चन्द्रमा के मण्डल में भी यह संवेदन जाता है और फिर गिरता है और चित्त से चन्द्रमा को देखता है और फिर आता है, इससे जाना कि यह निराकार है; जो साकार होता तो चन्द्रमारूप हो जाता, फिर लौटकर न आता। जैसे जल में डाला हुआ जल फिर नहीं निकलता। इस कारण जानता हूँ कि यह अप्रत्यक्ष अर्थात् निराकार है। हे मुनीश्वर ! अज्ञानी का आशय लेकर मैं पूछता हूँ कि इस शरीर में जो प्राण आते-जाते हैं, वे कैसे आते-जाते हैं ? जो तुम कहो कि संवित्, जो ज्ञानशक्ति है, इस शरीर और प्राण को लिये फिरती है—जैसे मजदूर भार को लिये फिरता है—तो ऐसे कहना ठीक नहीं, क्योंकि संवित् अप्रत्यक्ष निराकार है। अप्रत्यक्ष साकार से नहीं मिलता। तब वह चेष्टा क्योंकर करे ? जो कहो कि निराकार संवित् ही चेष्टा कराती है, तो पुरुष की संवित् चाहती है कि पर्वत नृत्य करे, पर वह तो इसका चलाया नहीं चलता। और कहते हैं कि ये पदार्थ उठ आवें, परन्तु वे तो नहीं उठते, क्योंकि पदार्थ साकार हैं और वृत्ति निराकार है। इसका क्या उत्तर है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इस शरीर में एक नाड़ी है। जब वह अवकाशरूपी होती है, तब उसमें से प्राणवायु निकलता है और जब संकोचरूप होती है, तब प्राणवायु भीतर आता है। जैसे लुहार की धौंकनी होती है, वैसे ही इसके भीतर पुरुषबल है, उससे चेष्टा होती है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! धौंकनी भी तब चलती है जब उसके साथ बल का स्पर्श होता है, और स्पर्श तब होता है, जब प्रत्यक्ष वस्तु होती है। पर चेतनता तो निराकार है। उसको स्पर्श क्योंकर कहिये ? जो तुम कहो कि उसकी इच्छा ही से स्पर्श होता है, तो हे मुनीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि मेरे सम्मुख जो वृक्ष है, वह गिर पड़े, पर वह तो नहीं गिरता, क्योंकि

इच्छा निराकार हैं। जो साकार से स्पर्श हो तब उसकी शक्ति से गिर पड़े। यदि इच्छा से ही चेष्टा होती है तो कर्मइन्द्रियाँ किस लिए हैं? इच्छा ही से जगत् की चेष्टा हो? यह भी संशय है कि एक के बहुत क्योंकर हो जाते हैं और बहुत का एक क्योंकर हो जाता है? एक चैतन्य है, पर जब प्राण निकल जाते हैं, तब पाषाण और वृक्ष की नाईं जड़ हो जाता है। आत्मा तो सर्वव्यापी है, वह जड़ कैसे हो जाता है? कोई पाषाण और वृक्षरूप जड़ है और कोई चेतन है। यह भेद एक आत्मा में कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! तुम्हारे संशयरूपी वृक्षों को मैं वचनरूपी कुल्हाड़े से काटता हूँ। जिनको तुम प्रत्यक्ष साकार कहते हो, सो उनमें आकार कोई नहीं, सब निराकार हैं। वह शुद्ध आत्मा अद्वैतसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है—ये आकार कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्ननगर में जो आकार दिखते हैं, वे सब आकाश-रूप निराकार हैं, वैसे ही ये आकार भी जो तुमको दिखते हैं, सब निराकार हैं। स्वप्न में जो पर्वत दिखते हैं, वे किसके आश्रय होते हैं और देहादिक दिखते हैं, वे किसके आश्रय हैं? इसलिए वे कुछ बने नहीं, अनुभवसत्ता ही आकाररूप हो दिखती है। वैसे इसे भी जानो कि आकार कोई नहीं।

हे राम! जब इन पदार्थों का कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं निकलता, इसी से जाना जाता है कि आभासमात्र हैं, बने कुछ नहीं। आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासित होती है। आत्मसत्ता अद्वैत और परमशुद्ध है। उसमें जगत् कुछ बना नहीं, तो मैं आकार क्या कहूँ और निराकार क्या कहूँ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी द्वैत कुछ नहीं, शुद्ध आत्मसत्ता ही इस प्रकार दिखती है। जैसे संकल्प के रचे पदार्थ अनुभवरूप होते हैं, वैसे ही ये सब पदार्थ अनुभव-रूप हैं—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ। उसे मन लगाकर सुनो। हे राम! पहले भी मैंने तुमसे कहा है, और अब भी प्रसंगवश कहता हूँ। एक समय एक सृष्टि में एक इन्द्र ब्राह्मण था जो मानो ब्रह्मा ही था। उसके दस पुत्र हुए, जो मानो दसों दिशा

थे। कुछ काल में वह ब्राह्मण मृतक हुआ। उसकी स्त्री पतिव्रता थी, इसलिए उसके प्राण भी छूट गये—जैसे दिन के पीछे संध्या आ जाती है। तब उन पुत्रों ने यथाशास्त्रक्रम से उनकी क्रिया की और फिर एक पहाड़ की कन्दरा में पहुँचे और विचारने लगे कि किसी प्रकार हम ऊँचे पद को पावें। हे राम! पहले मैंने तुमको सुनाया है कि प्रथम उन्होंने मण्डलेश्वर, चक्रवर्ती राजा और इन्द्रादिक के पद को पाने का विचार किया। फिर बड़े भाई ने निर्णय करके यही कहा कि सबसे ऊँचा ब्रह्माजी का पद है, जिनकी यह सब सृष्टि रची हुई है, इसलिए हम दसों ब्रह्मा हों। ऐसे विचार करके वे दसों पद्मासन लगाकर बैठे और यह निश्चय किया कि हम चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, और सब सृष्टि हमारी रची है। निदान वे ऐसे निश्चल हो गये, मानो पुतलियाँ लिखी हुई हैं। उन्हें खान-पान छोड़े मास, वर्ष और युग वर्ष व्यतीत हो गये, पर वे ज्यों के त्यों रहे, चलायमान न हुए। जैसे जल नीची जगह में जाता है, ऊँचे को नहीं जाता, वैसे ही उन्होंने अपना निश्चय न त्यागा और दृढ़ रहे। जब कुछ काल व्यतीत हुआ, तब उनके शरीर गिर पड़े और उनको पक्षी खा गये, पर उनकी जो ब्रह्मा की वासना से युक्त संवित् थी, उस वासना से दसों ब्रह्मा हो गये, और उनकी देश, काल, पदार्थ और नीति सहित दस ही सृष्टियाँ हो गईं। जैसे हमारी सृष्टि है, वैसे ही वे सृष्टियाँ हुईं।

हे राम! वे सृष्टियाँ क्या हुईं, आत्मा ही वस्तु हुई और तो कुछ नहीं; कुछ और हो तो कहूँ। इससे सृष्टि का और रूप कुछ नहीं, अपना अनुभव ही सृष्टिरूप भासित होता है. और जो कुछ पदार्थ भासित होते हैं वे सब आत्मरूप हैं। हे राम! जैसे हम ब्रह्मा के संकल्प में रचे गये हैं, वैसे ही उन्होंने भी रच लिये, और वे भी इस प्रकार स्थित हो गये। इससे सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जो किसी कारण से जगत् बना होता तो जाना जाता कि कुछ हुआ है, पर इसका कारण कोई नहीं पाया जाता, इससे यह जगत् संकल्पमात्र और आभासमात्र है। इससे कहता हूँ कि सब ब्रह्म ही है, और वस्तु कुछ नहीं। पाषाण,

वृक्ष, जड़-चेतन जो कुछ पदार्थ दिखते हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप हैं। उससे भिन्न कुछ नहीं। हे राम! महाभूत जो वृक्ष, पृथ्वी, आकाश, पहाड़ आदि हैं, ये सब चिदाकाशरूप हैं—चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं। जैसे इन्द्र के पुत्र एक से अनेक हो गये, वैसे ही यह सृष्टि भी एक से अनेक हुई है और प्रलय में अनेक से एक हो जाती है। जैसे एक तुम स्वप्न में अनेक हो जाते हो और सुषुप्ति में अनेक से एक हो जाते हो, वैसे ही यह जगत् भी है। यह अकारण है। यदि इसे सकारण भी मानिये तो आत्मारूपी कुम्हार है, संकल्प चक्र है और अनुभव-चैतन्य-रूपी घट उससे उपजते हैं। आभास भी वही है, कुछ दूसरी वस्तु नहीं। यह सब जगत् वही रूप है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों को अपने अनुभव हीसे सृष्टि प्रकट हो आई, और वह अनुभवरूप ही में दिखने लगी, इससे और कुछ न हुई, वैसे ही इस सृष्टि को भी जानो।

हे राम! घट, वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब चैतन्यरूप हैं—चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही घट, पहाड़, नदियाँ और पदार्थ होकर दिखता है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत् अनुभव से भिन्न नहीं—ज्ञानी को सदा यही निश्चय रहता है। अब एक-अनेक का उत्तर सुनो। हे राम! जैसे मनोराज्य में एक से अनेक हो जाते हैं और अनेक से एक हो जाता है, एवम् चैतन्य से जड़ हो जाता है, पर जड़ कोई पदार्थ नहीं भासित होता। सब पदार्थ चैतन्यरूप हैं। जहाँ अन्तःकरण प्रकट होता है वह चैतन्य भासित होता है, और जहाँ अन्तःकरण नहीं मिलता, वह जड़ दिखता है—चैतन्य का आभास अन्तःकरण में मिलता है, पर जब पुर्यष्टका निकल जाती है, तब जड़ दिखता है। यह अज्ञानी की दृष्टि कही है। पर मुझसे पूछो तो जिनको जड़ कहते हैं, जिनको चेतन कहते हैं, जिनको पहाड़, वृक्ष, पृथ्वी कहते हैं, वे सब ब्रह्मरूप हैं—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में कितने ही जड़ और कितने ही चेतन पदार्थ दिखते हैं, और नाना प्रकार के पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखते हैं, पर सब आत्मरूप हैं, भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मरूप है।

इच्छा, अनिच्छा सब ब्रह्मरूप हैं। सब नामरूप आत्मा के हैं, और दूसरी वस्तु कुछ नहीं। शून्य, अशून्य, सत्य, असत्य, सब आत्मा के नाम हैं– आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

हे राम! मूर्ख जिसको जड़ कहते हैं, वह जड़ नहीं है। सब चैतन्य-रूप हैं। पर सृष्टिकाल में जड़ ही हैं। वे संवेदन में जड़रूप होकर रचित हुए हैं; वे चेतन्य में रचे हैं। जिसको अपने वास्तव स्वरूप का प्रमाद होता है, उसको ये जड़-चैतन्य भिन्न-भिन्न दिखते हैं, पर जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको एक ब्रह्मसत्ता ही दिखती है। हे राम! यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है, वह बारम्बार विचारने योग्य है। जो कोई इसको नित्य विचारता रहेगा, उसके दोष घटते जावेंगे और हृदय शुद्ध होगा। जो ब्रह्मविद्या को त्यागकर जगत् की ओर चित्त लगावेगा, उसके दोष बढ़ते जावेंगे। हे राम! ज्यों-ज्यों जीव को ब्रह्मविचार उदय होता जावेगा, त्यों-त्यों दुःख नष्ट होते जावेंगे, जैसे ज्यों-ज्यों दिन का उदय होता है, त्यों-त्यों तम नष्ट हो जाता है। विचार के त्यागने से दुःख बढ़ते जाते हैं। जो महापापी हैं, उनके पाप मेरे शास्त्र का अभ्यास न करने देंगे। उनको यह जगत् वज्रसार की नाईं दिखता है और संसार-भ्रम कभी निवृत्त नहीं होता। मैं, तुम आदि यह सब जगत् आकाश-रूप हैं। भाव-अभाव आदि सब शब्द ब्रह्मसत्ता के नाम हैं, जो परमशुद्ध, निरामय, अद्वैत और सदा अपने ही आपमें स्थित है। जितने पदार्थ उसमें भासित होते हैं, वे ऐसे हैं, जैसे शिला में शिल्पी जिन पुतलियों की कल्पना करता है, वे सब शिल्पी के चित्त में होती हैं। वैसे ही जगत् के पदार्थों की प्रतिभा जो सब मन में है, वह उसी का किञ्चनरूप है, कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह सदा अपने आपमें स्थित है और परम मौन-रूप है। उसमें विकल्प कोई नहीं प्रवेश कर सकता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठ निर्वाणप्रकरणे इन्द्राख्यानवर्णनं नाम द्विशताधिकद्विषष्टितमस्सर्गः ॥ २६२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! सब लोक चिन्मात्र हैं, इसी से शान्त और अद्वैतरूप हैं। अज्ञानी को भिन्न-भिन्न जगत् दिखता है और ज्ञानी को

सब निराकार और आकाशरूप है। आकार कुछ बने नहीं। आत्मसत्ता निराकार है, और वही परमशुद्धसत्ता इस प्रकार दिखती है। वह शान्त-रूप, अनन्त और चिन्मात्र है। इन्द्रियाँ भी ज्ञानरूप हैं और हाड़, मांस, रुधिर, हाथ, पैर, शिर आदि सम्पूर्ण शरीर भी ज्ञा नमात्र है—ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं—चिन्मात्र ही इस प्रकार भासित होता है। जैसे स्वप्न में शरीरा-दिक और पहाड़, नदियाँ और वृक्ष जो दिखते हैं, वे अपना ही अनुभव हैं, कुछ और नहीं बना, वैसे ही यह सब जगत् अनुभवरूप है। यह कारण से रहित कार्य दिखता हैं। तुम अपने अनुभव में जागकर देखो कि सब अनुभवरूप है। आकाश में आकाश भी आकाशरूप है। सत्य में सत्य है, भाव में भाव है। अभाव में अभाव है। सब आत्मरूप है, भिन्न कुछ नहीं। जो तुम कहो कि वस्तु कारण ही से उत्पन्न होती है सो सत्य होती है, परन्तु जगत् का कारण कहीं नहीं मिलता, इससे यह मिथ्या है, तो कारण भी इसका तब कहिये, जब यह कुछ वस्तु हो, और कार्य भी तब कहिये, जब इसका कारण सत्य हो। हे राम ! ब्रह्मसत्ता तो न किसी का समवाय कारण है और न किसी का निमित्त कारण। वह तो केवल अच्युत है। इसी से समवाय कारण नहीं। और अद्वैत है, इससे निमित्त कारण भी नहीं। वह तो सब इच्छाओं से रहित है। उसको किसका कारण कहिये ? और जब कारण नहीं, तो कार्य किसका हो ? इससे सब जगत् जो दिखता है, वह आभासमात्र है—उसी ब्रह्मसत्ता का नाम जगत् है।

जैसे निद्रा एक है, और उसके दो स्वरूप हैं—एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति। स्फुरणरूप का नाम स्वप्नस्फुरण है और न फुरने के रूप का नाम सुषुप्ति है। वैसे ही चैतन्य के भी दो स्वरूप हैं—स्फुरणरूप चैतन्य का नाम जगत् है और न फुरनेवाले रूप का नाम ब्रह्म है। जैसे एक ही वायु के चलना और ठहरना, दो पर्याय हैं—जब चलती है तब देखने में आती है और जब ठहरती है, तब अलक्ष्य हो जाती है और शब्द का विषय नहीं होती, वैसे ही स्फुरण-रहित ब्रह्मसत्ता में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। जब फुरती है, तब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, त्रिपुटीरूप